प्रकाशक
जगदीश स्वरूप
आदाता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

द्वितीय संस्करण · २२०० प्रतियाँ
शक १९०१ : सन् १९७९ ई०
मूल्य पाँच रुपये पचास पैसे

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणाल

प्रकाशकीय

स्नातक कक्षाओ के पाठ्यक्रम के अनुसार हिन्दी-गद्य के विकास-क्रम का दिग्दर्शन कराने वाली कृतियो का एक प्रतिनिधि संकलन सम्पादित करने का अनुरोध सम्मेलन ने हिन्दी के यशस्वी विद्वान्-समीक्षक डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल से किया था। शुक्ल जी द्वारा सम्पादित यह सकलन सम्मेलन की मान्यताओ के सर्वथा अनुरूप तथा विद्वत्ता एव खोजपूर्ण भूमिका के साथ सब प्रकार से उपादेय है। हिन्दी-गद्य के प्रमुख शैलीकारो एव सुलेखको की प्रतिष्ठित तथा चर्चित कृतियो का चयन करके सकलनकर्त्ता डॉ० शुक्ल ने अपनी साहित्यिक सुरुचि का परिचय दिया है।

आशा है, हिन्दी-गद्य-साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से प्रस्तुत इस सकलन के द्वितीय सस्करण से भी पाठको की जिज्ञासा-तृप्त होगी।

जगदीश स्वरूप
आदाता

विषय-सूची

विकास क्रम की दृष्टि से राजस्थानी गद्य का प्रारम्भिक रूप सस्कृत तथा अपभ्रंश के प्रभाव से अपने को मुक्त नही कर सका है। इसके बाद के रूप पर ब्रजभाषा का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नही, खडी बोली के रूपो से भी राजस्थानी गद्य प्रभावित हुआ है।

उन्नीसवी शती तक आते-आते राजस्थानी-गद्य अपनी उपयुक्तता खोने लगा। भारतीय समाज अग्रेजी-सस्कृति और सभ्यता के प्रभाव को ग्रहण करने लगा। भारत की नव-चेतना की समर्थ अभिव्यक्ति मे राजस्थानी गद्य सफल न होकर अपनी उपयुक्तता खो बैठा।

ब्रजभाषा-गद्य—ब्रज-भाषा गद्य का सर्वप्रथम प्रयोग गोरखपथी योगियो के धार्मिक उपदेशो मे मिलता है। कुछ व्यवस्थित ढग का गद्य लिखने वालो मे गुरु गोरखनाथ का प्रथम स्थान है।'

गोरखपथी गद्य के पश्चात् ब्रजभाषा गद्य का अपेक्षाकृत विकसित रूप सोलहवी शताब्दी मे देखने को मिलता है। ब्रजभाषा की दृष्टि से इस शताब्दी का महत्त्वपूर्ण ग्रथ 'श्रृगार रस मडल' है। इसके रचयिता श्री वल्लभाचार्य जी के सुपुत्र श्री विट्ठलनाथ जी हैं। इस पुस्तक मे प्रयुक्त ब्रजभाषा-गद्य, ब्रजभाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी साहित्यिक ऊँचाई को स्पर्श नहीं कर पाया है।

विट्ठलनाथ जी के सुपुत्र गोकुलनाथ जी द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता', 'दो सौ वैष्णवो की वार्त्ता' तथा 'वन यात्रा' नामक ग्रथो मे ब्रजभाषा गद्य का अपेक्षाकृत सुगठित तथा साहित्यिक रूप देखने को मिलता है।

ब्रजभाषा गद्य, इस समय, विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा था। विकास के इस प्रवाह को गति प्रदान करने मे श्री नाभादास, श्री वैकुण्ठमणि शुक्ल, श्री सूरति मिश्र आदि ने बडी सहायता की।

इसके अतिरिक्त ओरछा नरेश महाराज जसवत सिंह के आश्रित विद्वान वैकुण्ठमणि शुक्ल का, स० १६८० के लगभग लिखा गया 'अगहन-

माहात्म्य' तथा 'वैशाख-माहात्म्य' एवं सं० १६६७ में प्रणीत श्री सूरति मिश्र की 'बैताल पचीसी' भी ब्रजभाषा गद्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इसके पश्चात् संवत् १८०० (१८वीं शती का उत्तरार्द्ध) ब्रजभाषा गद्य की कतिपय मुख्य और निश्चित धाराओं के दर्शन कराता है—

१ गद्य की विभिन्न विधाओं का प्रयोग।

२ टीकाओं की रचना।

ब्रजभाषा गद्य की विभिन्न विधाओं में 'नाटकों' का विशेष स्थान रहा है। ये 'नाटक' दो प्रकार के हैं—मौलिक तथा अनूदित।

इस काल के प्रमुख नाटकों में, कविवर देव रचित 'देवमाया प्रपंच', रामकवि रचित 'हनुमत नाटक', नेवाज रचित 'शकुंतला नाटक', रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह रचित 'आनन्द रघुनन्दन' भारतेन्दु के पिता श्री गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधरदास) रचित 'नहुष' नाटक उल्लेखनीय हैं।

नाटकों के अतिरिक्त इस काल में जीवनी तथा कथा की रचना का भी सूत्रपात हो गया था। सन् १७९५ के लगभग श्री हीरालाल कृत 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' नामक पुस्तक मिलती है।

इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग है। यह भी ज्ञात होता है कि इस काल तक 'जीवनी' लिखने की रीति का शुभारम्भ हो गया था।

इसी प्रकार इस काल में कथा लिखने की भी रीति प्रारम्भ हो गयी थी, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। सं० १८६० के लगभग 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक मिलती है। यह कथात्मक शैली में रचित है।

इस काल की दूसरी [illegible] धारा है टीकाओं की परम्परा। इस काल में ब्रजभाषा में [illegible] टीकाएँ लिखी गईं। कुछ प्रसिद्ध तथा उल्लेखनीय टीकाओं का [illegible] है—

१ सन् [illegible] में हरिचरणदास कृत 'बिहारी सतसई की टीका' [illegible] सन् १७५८ में 'कविप्रिया की टीका'। २ [illegible]

कृत 'रामायण सटीक' (सन् १७८४-१७८७)। ३. जानकीप्रसाद-कृत 'रामचन्द्रिका की टीका' (सन् १८१५)। ४. सरदार कवि कृत 'रसिकप्रिया की टीका' (सन् १८४६)। ५. सूरदास के 'दृष्टिकूट की टीका' (सन् १८४७) तथा ६. 'कविप्रिया की टीका' (सन् १८५४) इत्यादि प्रसिद्ध है।

इन टीकाओ के लिए प्रयुक्त भाषा मे परिमार्जन नही है। मूल अर्थ को भी प्रकट करने मे इन टीकाओ की भाषा पूर्ण रूप से समर्थ नही हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी गद्य से कोई विशेष नवीन, उल्लेखनीय प्रगति ब्रजभाषा गद्य मे नही मिलती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि ब्रजभाषा तक आते-आते हिन्दी भाषा के गद्य का क्षेत्रफल बढ गया एव वह जनरुचि के अनुकूल अपने को ढालने के लिए प्रयत्नशील था, पर गद्य की अव्यवस्थिता तथा शैली की नीरसता दूर न हो सकी। हिन्दी-गद्य का यह प्रारम्भिक काल १८वी शती तक चलता रहा और फिर, १९वीं शती तक आते-आते प्रारम्भ हुआ उसके वास्तविक एवं उपयुक्त विकास का काल। हिन्दी-गद्य के इस १९वी शती के विकास का काल है—खडी-बोली के विकास का काल।

खड़ीबोली-गद्य—आज खड़ी बोली को राष्ट्र-भाषा के पद पर सुशोभित होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

इस खडी बोली का जन्म प्राचीन 'शौरसेनी अपभ्रंश' भाषा से है। हिन्दी खडी बोली के अस्तित्व का आभास ७०० ई० के उत्तरार्द्ध से ही होने लगता है। दक्षिणाचार्य चिह्लोद्योतन की 'कुवलय माला कथा' मे खडी बोली हिन्दी गद्य का कुछ-कुछ सकेत पाया जाता है।

खड़ी बोली हिन्दी-गद्य के प्रयोग के प्रारम्भिक रूप तथा उसके सतत विकास को समझने के लिए निम्नलिखित विभाजन से सहायता मिल सकती है—

१. खडी बोली हिन्दी-गद्य का प्रारम्भिक प्रयोग।

२ खडी बोली हिन्दी-गद्य का विकासोन्मुख रूप (पूर्व भारतेन्दु-युग)।

३. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का विकासशील रूप (भारतेन्दु-युग)।
४. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का विकसित रूप (महावीरप्रसाद द्विवेदी-युग)।
५. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का चरमोत्कर्ष रूप (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युग)।
६. हिन्दी-गद्य की विभिन्न विधाएँ।

हिन्दी-गद्य के विकास की इन स्थितियों का अब क्रमानुसार परिचय प्राप्त किया जायगा।

१. खड़ीबोली हिन्दी-गद्य का प्रारम्भिक प्रयोग

प्रारम्भ में खड़ी बोली का प्रयोग-क्षेत्र बहुत सीमित था। मेरठ के आस-पास का प्रदेश इसका प्रयोग-क्षेत्र था। मुसलमान-शासकों द्वारा दिल्ली को केन्द्र बनाए जाने पर यहाँ की भाषा अर्थात् खड़ी बोली उनके द्वारा अपनायी गयी। देश में मुसलमान शासकों का प्रभाव फैलने के साथ-साथ खड़ी-बोली का भी प्रसार होने लगा, क्योंकि खड़ी बोली के बोलने वालों का विस्तार देश के एक विस्तृत भू-भाग पर होने लगा। यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि अरब फारस इत्यादि देशों से आए हुए सैनिकों तथा यहाँ के निवासियों के मध्य पारस्परिक विचार विनिमय के लिए एक माध्यम भाषा की समस्या थी। क्योंकि यहाँ के निवासी न तो उन विदेशी सैनिकों की अरबी, फारसी भाषा से परिचित थे और न वे यहाँ की हिन्दी से। फलस्वरूप परस्पर विभिन्न भाषाओं से, दोनों लोगों ने कुछ-कुछ शब्दों को लेकर विचार-विनिमय का एक माध्यम बना लिया। इस प्रकार मुसलमानों द्वारा एक मिश्रित भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ जो उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुई। ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि प्रारम्भ में इस उर्दू भाषा का ढाँचा खड़ी-बोली का ही था, शब्दों का संयोजन अरबी, फारसी का। कालान्तर में मुसलमानों ने

इसे अपनी सस्कृति के प्रचार तथा प्रसार का माध्यम बनाया तथा बडी तेजी के साथ 'उर्दू' की एक ऐसी 'इमारत' खडा करने मे जुट गए जिसमे अरबी तथा फारसी के शब्दो का ईंट-गारा लगा हो । केवल शब्द ही नही, अपितु उस 'इमारत' की सजावट भी अरबी-फारसी के व्याकरण से की गयी ।

इस प्रकार खड़ी-बोली के दो रूप हो गए—हिन्दी तथा उर्दू। पर इनके अतिरिक्त एक तीसरा रूप भी सामने आया और वह था 'हिन्दुस्तानी' का । खडी-बोली का यह हिन्दुस्तानी रूप, अंग्रेजो की कृपा का प्रसाद था जिसका मूल कारण राजनीतिक था। खडी-बोली का यह तीसरा रूप, अंग्रेजो ने हिन्दी तथा उर्दू के शब्दो को लेकर गढा था। पर इसका व्याकरण हिन्दी के आधार पर सघठित था ।

इस प्रकार प्रारम्भ से ही खडी-बोली के तीन रूप विकसित हो गए—

१. हिन्दो, २ उर्दू तथा ३ हिन्दुस्तानी ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भ गंग कवि द्वारा रचित "चद-छद वरनन की महिमा" से मानते हैं। यह गग कवि अकबर बादशाह के समय मे थे । इनका समय सं० १६२० के लगभग है ।

'चद-छद बरनन की महिमा' नामक पुस्तक के पूर्व, कोई प्रामाणिक गद्य-लेख न प्राप्त होने के कारण अधिकाश विद्वान् इसे ही खड़ी-बोली का प्रथम गद्य लेख मानते हैं ।

प्रथम गद्य लेख के उदाहरण के स्थान पर यदि, प्रथम परिमार्जित गद्य-लेखन का उदाहरण देखा जाए तो 'योग वाशिष्ठ' नामक पुस्तक का नाम सर्वप्रथम आएगा । इसके लेखक रामप्रसाद निरजनी पटियाला नरेश के दरबारी थे । इन्होने 'योग वाशिष्ठ' की रचना सन् १७४१ के लगभग की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे ही परिमार्जित खडी बोली गद्य की प्रथम पुस्तक मानते हैं।

'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' तथा 'योग वाशिष्ठ' में प्रयुक्त खड़ी-बोली गद्य की अविच्छिन्न परम्परा के दर्शन, जनप्रहलाद कृत 'नृसिंह तापनी उपनिषद्' के हिन्दवी (खड़ी बोली) अनुवाद (१७१९ ई०) और पं० दौलतराम कृत 'जैन पद्मपुराण' के भाषानुवाद (१७६१ ई०) तथा आगे चल कर मुंशी सदासुख लाल के 'सुखसागर' में होते हैं। इनमें 'सुखसागर' के गद्य की भाषा में ही 'योग वाशिष्ठ' से परिमार्जन के दर्शन होते हैं।

खड़ी-बोली-गद्य की इसी विकास-परम्परा में मुंशी इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' का अपना विशेष महत्त्व है। इंशा अल्ला खाँ उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। परन्तु गद्य-लेखन के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी के शुद्ध प्रयोग पर बल दिया।

२. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का विकासोन्मुख रूप (पूर्व भारतेन्दु-युग)

खड़ी-बोली गद्य के प्रारम्भिक रूप का अध्ययन करते समय एक महत्त्वपूर्ण विशेषता परिलक्षित हुई और वह यह कि उस समय के गद्य-लेखक अंग्रेजी प्रभाव से पूर्णतः मुक्त थे। यद्यपि खड़ी-बोली गद्य के विकास में अंग्रेजों द्वारा काफी सहायता मिली थी। पूर्व भारतेन्दु-युग में वेलेज्ली द्वारा सन् १८०० ई० में स्थापित "फोर्ट विलियम कालेज" के द्वारा खड़ी बोली गद्य के विकास में अत्यधिक सहायता मिली थी। १८ अगस्त सन् १८०० ई० के पत्रानुसार डा० जान बी० गिल क्राइस्ट की नियुक्ति हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफेसर के पद पर हुई। गिल क्राइस्ट महोदय ने खड़ी-बोली की मुख्य तीन शैलियाँ निर्धारित कीं—

१. दरबारी या फारसी शैली २. हिन्दुस्तानी शैली तथा ३. हिन्दवी शैली।

इनमें, हिन्दुस्तानी शैली इन्हें सर्वप्रिय थी।

सन् १८२३ ई० में विलियम प्राइस महोदय हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होंने कालेज की हिन्दी-भाषा सम्बन्धी नीति में

बहुत बडा परिवर्त्तन किया । उन्होने 'हिन्दुस्तानी' के स्थान पर 'हिन्दी-खडी बोली' को मान्यता दी ।

'फोर्ट विलियम कालेज' मे नियुक्त अधिकाश विद्वानो ने खड़ी-बोली गद्य के विकास मे अपना योगदान दिया। पर उल्लेखनीय एव महत्त्वपूर्ण योग-दान है लल्लू लाल, सदल मिश्र नामक विद्वानो का तथा ईसाई धर्म-प्रचारको का ।

श्रीलल्लूलाल—लल्लूलाल जी का जन्म सन् १७६४ मे आगरा मे हुआ था। ये जाति से गुजराती ब्राह्मण थे। लल्लूलाल जी की लगभग ग्यारह रचनाओ का उल्लेख मिलता है। इनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'प्रेमसागर' है। इसकी रचना इन्होने फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट के निर्देशानुसार की थी। इसकी रचना करते समय, लल्लूलाल जी ने, अरबी-फारसी भाषा के शब्दो का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु इस प्रतिज्ञा का वह पूरी तरह निर्वाह नही कर सके। इसके अतिरिक्त 'प्रेमसागर' की भाषा मे ब्रजभाषा का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। लल्लूलाल जी के गद्य की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसमे पडिताऊपन के साथ कवित्त्वमयता भी आ जाती है, फलस्वरूप भाषा मे लालित्य आ जाता है ।

वस्तुतः लल्लूलाल जी के गद्य मे कवित्वमयता इतनी आ गयी है कि उनका गद्य, गद्य-पद्य का मिश्रण प्रतीत होता है। पर इतने से ही गद्य के विकास मे इनके प्रयास और योगदान को कम करके नही आंका जा सकता है ।

पं० सदल मिश्र—फोर्ट विलियम कालेज से सम्बन्धित हिन्दी के विद्वानो मे प० सदल मिश्र का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

मिश्र जी आरा जिले के निवासी थे। उनकी रचनाओ मे 'चद्रावती' अथवा 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०), 'रामचरित्र' (अध्यात्म रामायण का अनुवाद, १८०६ ई०) तथा 'हिन्दी-पर्शियन वोकेबुलरी'

(१८०९ ई०) विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनमें भी 'चन्द्रावली' का हिन्दी गद्य के विकास में एक विशिष्ट स्थान है। यह 'चन्द्रावली' नासिकेतोपाख्यान का अनुवाद है, जिसे उन्होंने फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष गिलक्राइस्ट महोदय की प्रेरणा से किया था।

इनकी भाषा में न तो इंशा अल्ला खाँ की भाषा का फारसी-अरबी रूप है और न लल्लूलाल जी की भाषा का पण्डिताऊपन। आरा जिले के निवासी होने के कारण उनकी भाषा पर बिहारी के साथ-साथ बंगला भाषा का भी प्रभाव देखने को मिलता है। इनके साथ ही कुछ पूर्वी बोलियों के शब्दों के प्रयोग से भी ये नहीं बच सके हैं। फिर भी उनकी भाषा परिमार्जित गद्य की विशेषताओं को अधिक आत्मसात् कर सकी है।

ईसाई धर्म-प्रचारकों का योगदान

हिन्दी-प्रदेश में ईसाई धर्म-प्रचारकों का प्रवेश अंग्रेजी शासन के स्थापित होने से बहुत पूर्व हो चुका था। सन् १८१३ में "विल फोर्स एक्ट' के पारित होने से ईसाइयों को अपने धर्म का प्रचार करने की अनुमति मिल गयी। तब से ईसाई धर्मप्रचारकों ने भारत के प्रमुख नगरों को अपने कार्य का केन्द्र बनाया और इनका प्रचार पूर्ण भारत में प्रारम्भ हुआ।

इन धर्मप्रचारकों को जनसाधारण की बोली में ही अपने धर्म के ग्रन्थों की व्याख्या करनी पड़ी जिससे उनके प्रचार एवं प्रसार को विस्तार मिल सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने हिन्दी-गद्य की उस परम्परा को ग्रहण किया जो रामप्रसाद निरंजनी, सदासुखलाल, लल्लूलाल द्वारा प्रचलित होती हुई विकसित हुई थी।

धर्म प्रचार के लिए ईसाइयों ने 'बाइबिल' का अनुवाद कराया। १८[illegible]१० में हेनरी मार्टिन ने बाइबिल का हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में अनुवाद किया। इस अनुवाद का ऐतिहासिक महत्त्व है।

३ खड़ीबोली हिन्दी-गद्य का विकासशील रूप (भारतेन्दु-युग)

पूर्व भारतेन्दु युग का अध्ययन करने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि खडी बोली गद्य का परिष्कार, भाषा का गठन तो प्रारम्भ हो चला था, पर हिन्दी गद्य को एक सुनिश्चित रूप तब भी प्राप्त नही हो सका था। उस समय तक गद्य लिखने की एक परिपाटी-सी तो बन गयी थी पर हिन्दी की एक निश्चित शैली नही बन सकी थी। यह कार्य तो आगे चल कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा पूर्ण होना था। उस समय के लेखको मे उल्लेखनीय हैं—राजा द्वय अर्थात् राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा राजा लक्ष्मण सिंह। इनके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त। अत. भारतेन्दु-युग मे हिन्दी गद्य के 'स्वरूप' को समझने के लिए इन्ही विद्वानो के कार्यों का मूल्या-कन उपयुक्त रहेगा।

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' (१८२३-१८९५ ई०)—राजा शिवप्रसाद, काशी के नरेश थे। हिन्दी-गद्य के विकास मे इनका जो योगदान है, उसका अपना महत्त्व है। हिन्दी-गद्य की भाषा के सम्बन्ध मे इनके तीन दृष्टिकोण मिलते हैं—

पहला तो तत्सम शब्द मिश्रित शुद्ध खडी बोली हिन्दी का रूप, दूसरा चलताऊ व्यावहारिक सरल हिन्दी का रूप तथा तीसरा अरबी-फारसी शब्द मिश्रित उर्दूपन से युक्त भाषा।

राजा शिवप्रसाद की प्रारम्भिक कृतियो मे हमे भाषा के प्रथम रूप के दर्शन होते हैं, अर्थात् इन्होने सस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय पुस्तकें हैं—'मानवकर्म सार', 'उपनिषद्सार' तथा 'योग-वाशिष्ठ' के चुने हुए कुछ श्लोक।

राजा साहब के 'गद्य' की भाषा मे दूसरा परिवर्त्तन देखने को मिलता है व्यावहारिक सरल हिन्दी का। इस भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो का आग्रह समाप्त हो गया था। इस भाषा मे, राजा साहब ने, विदेशी भाषाओ

में शब्दों का भी प्रयोग किया है। प्रारम्भ में उनकी नीति इसी प्रकार की भाषा से सम्बन्धित थी। उनकी कृति 'भूगोल हस्तामलक' में उनकी भाषा का यही हिन्दी रूप मिलता है।

परन्तु आगे चलकर राजा शिवप्रसाद की भाषा-विषयक नीति में पर्याप्त परिवर्तन आ गया। तत्कालीन युग की साम्प्रदायिक तथा राजनीतिक स्थितियों के साथ भाषा-विषयक उनका पूर्ण रूप टिक न सका। उर्दू के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता ही गया। यह मोह यहाँ तक बढ़ा कि उन्होंने 'इतिहास तिमिर नाशक' की भूमिका में उर्दू को मातृभाषा घोषित कर दिया था।

राजा लक्ष्मण सिंह—राजा शिवप्रसाद की उर्दू विषयक नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप राजा लक्ष्मण सिंह एक सर्वथा विपरीत भाषा-विषयक आदर्श लेकर आए। उन्होंने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पक्ष लिया। भाषा के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उनका यह कथन सहायक सिद्ध होगा—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हैं।"

—(रघुवंश विज्ञापन, पृ० २-३)

'शकुन्तला', 'रघुवंश' तथा 'मेघदूत' इन तीनों के अनुवाद उनकी इस भाषा सम्बन्धी नीति को पुष्ट करते हैं।

उर्दू के रंग में रंगे हुए इस वातावरण में राजा लक्ष्मण सिंह ने बड़ी दृढ़ता के साथ हिन्दी के विशुद्ध रूप की रक्षा का प्रयत्न किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—काशी के प्रसिद्ध परिवार में आपका जन्म

हुआ था । पैंतीस वर्ष की अल्पायु मे ही हिन्दी साहित्य को जो समृद्धि दी है, उसके लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा । आपने हिन्दी-गद्य को ऐसी सुनिश्चित तथा स्वस्थ परम्परा दी, जिसका सहारा लेकर हिन्दी आज भी निरन्तर विकास के पथ पर बढ़ती ही जा रही है।

भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी का रूप विरोधीमतो की खींच-तान मे, डावांडोल हो रहा था । दो एकदम विरोधी नीतियो के मध्य हिन्दी का स्वरूप निश्चित दिशा नही पा रहा था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संस्कृत-निष्ठ तथा अरबी-फारसी मिश्रित, इन दोनो अतिवादी हिन्दी के स्वरूपो से दूर रहकर हिन्दी के सच्चे स्वरूप को पहचाना तथा प्रतिष्ठित किया। 'हिन्दी-भाषा' नामक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचना उनके हिन्दी-गद्य विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने मे बहुत सहायक है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विकसित तथा परिमार्जित हिन्दी का जन्म अपने ही काल मे मानते हैं । उनकी 'काल-चक्र' नामक पुस्तक मे यह लिखा मिलता है कि "हिन्दी नयी चाल मे ढली" (सन् १८७३ ई०) ।

भारतेन्दु जी के गद्य पर पूर्वी हिन्दी तथा ब्रज का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । उन्ही के समय हिन्दी गद्य को एक व्यावहारिक रूप मिला । शब्द-ग्रहण करने की क्षमता का उसमे अद्भुत विकास हुआ । अंग्रेजी के नाना शब्दो का प्रयोग हिन्दी-गद्य मे होने लगा । इसके साथ ही हिन्दी-गद्य की अभिव्यंजना शक्ति भी बढ़ने लगी थी । नए-नए विचारों को वहन करने की शक्ति भी हिन्दी मे आ गयी थी ।

बालकृष्ण भट्ट—भट्ट जी का जन्म प्रयाग मे हुआ था । अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-गद्य के स्वरूप को लेकर आप क्षुब्ध रहा करते थे और निराश होकर आपने 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र निकाला । जिसका उद्देश्य [illegible] हिन्दी-गद्य का प्रचार करना था । इस पत्र को आप बत्तीस वर्ष तक आर्थिक हानि सह कर भी निकालते रहे ।

भट्ट जी के हिन्दी-गद्य की भाषा संस्कृत मिश्रित रही है । पर इन्हे

इसके साथ ही पहली बार हिन्दी गद्य का व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है।

४ खड़ीबोली हिन्दी-गद्य का विकसित रूप—(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी-युग)

आचार्य द्विवेदी के पूर्व, विकासोन्मुख हिन्दी-गद्य अनेक त्रुटियो से पूण था। इनमे प्रमुख कमी तो यह थी कि हिन्दी-गद्य लेखको के गद्य मे एकरूपता का अभाव था। दूसरे, व्याकरण की स्थिति डावाँडोल थी। ऐसे समय मे द्विवेदी जी का हिन्दी-साहित्य के विस्तृत गगन-मण्डल पर आविर्भाव हुआ। शनैः शनैः यह बाल-अरुण, देदीप्यमान्, तेजोमय 'सूर्य' मे बदल गया, जिसके प्रखर प्रकाश के सम्मुख हिन्दी-गद्य की छोटी से छोटी भूल भी ओझल न रह सकी। उन्होने न केवल 'गद्य' की 'भाषा' को व्याकरण सम्मत बनाया, अपितु इसकी अस्थिरता की ओर लेखको का ध्यान आकृष्ट किया। इतना ही नही, उन्होने उस समय की हिन्दी-गद्य की प्रमुख न्यूनता अर्थात् एकरूपता के अभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। 'सरस्वती' पत्र का सम्पादन करते हुए उन्होने अनेक लेखको को प्रोत्साहित किया, उनकी रचनाओ का सशोधन किया तथा समय-समय पर लेखको के ग्रन्थो की भाषा का भी सुधार किया।

द्विवेदी-युग मे, आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य को प्रौढता तथा परिमार्जन प्रदान करने वाले लेखको मे प० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', अध्यापक पूर्णसिंह, गणेशशकर विद्यार्थी, शिवपूजन सहाय आदि प्रमुख हैं और इनके योगदान का भी विशेष महत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते है कि द्विवेदी-युग मे आकर हिन्दी-गद्य के स्वरूप को स्थिरता मिली, उसमे प्रौढता आई तथा उसकी भाषा मे प्रचुर परिमार्जन हुआ। गद्य की भाषा मे परिष्कार होने के साथ ही साथ, उसमे सरलता तथा व्यजना शक्ति का प्रवेश हुआ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि हिन्दी साहित्य के उद्यान को निर्बाध

रूप से परिष्कृत, पुष्पित तथा विकसित करने के लिए द्विवेदी जी ने बड़ी लगन से उसकी भूमि को उपजाऊ बनाया और यह उस उपजाऊ भूमि का ही परिणाम है कि हिन्दी-साहित्य का उद्यान निरंतर विकसित और समृद्ध होता जा रहा है।

५. खड़ी-बोली हिन्दी-गद्य का चरमोत्कर्ष काल—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युग)

द्विवेदी युग में, यद्यपि हिन्दी-गद्य में परिमार्जन हो रहा था और वह परिपक्वता की ओर बढ़ रहा था, परन्तु फिर भी कुछ दुर्बलताएँ रह गई थीं। किन्तु हिन्दी-साहित्य में आचार्य शुक्ल के प्रवेश के साथ ये दुर्बलताएँ भी समाप्त हो गईं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का युग ऐसा युग था जिसमें पहली बार हिन्दी-गद्य अपनी जातीय तथा व्यक्तिगत शैली का विकास कर सका। इस जातीय शैली के विकास में अनेक भाषाओं की शैलियों का प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दी-गद्य को यदि एक ओर अंग्रेजी ने अभिव्यञ्जना शक्ति दी, तो बंगला ने मधुरता देकर सरस बनाया, मराठी ने यदि गम्भीर रहना सिखाया तो उर्दू ने प्रवाह से युक्त किया।

आचार्य शुक्ल ने इस हिन्दी-गद्य को न केवल अपनी प्रखर प्रतिभा तथा मौलिक चिन्तन-शक्ति से परिमार्जित तथा प्रौढ़ किया बल्कि इसको इन गुणों से युक्त किया जिससे हिन्दी गद्य एक नवीन आभा से चमक उठा। इस युग में प्रमुख थे—[illegible]-गाम्भीर्य, अभिव्यक्ति का संयम तथा [illegible] की शक्ति।

[illegible] दोनों को [illegible] करने में सफल हुआ, [illegible] अभिव्यक्ति में [illegible]।

१ हिन्दी-गद्य की विविध विधाएँ—[illegible] हम कह सकते हैं कि [illegible] आचार्य [illegible] हिन्दी-

इसके साथ ही पहली बार हिन्दी गद्य का व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है।

४ खड़ीबोली हिन्दी-गद्य का विकसित रूप—(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी-युग)

आचार्य द्विवेदी के पूर्व, विकासोन्मुख हिन्दी-गद्य अनेक त्रुटियो से पूण था। इनमे प्रमुख कमी तो यह थी कि हिन्दी-गद्य लेखको के गद्य मे एकरूपता का अभाव था। दूसरे, व्याकरण की स्थिति डावाँडोल थी। ऐसे समय मे द्विवेदी जी का हिन्दी-साहित्य के विस्तृत गगन-मण्डल पर आविर्भाव हुआ। शनैः शनैः यह बाल-अरुण, देदीप्यमान्, तेजोमय 'सूर्य' मे वदल गया; जिसके प्रखर प्रकाश के सम्मुख हिन्दी-गद्य की छोटी से छोटी भूल भी ओझल न रह सकी। उन्होने न केवल 'गद्य' की 'भाषा' को व्याकरण सम्मत बनाया, अपितु इसकी अस्थिरता की ओर लेखको का ध्यान आकृष्ट किया। इतना ही नही, उन्होने उस समय की हिन्दी-गद्य की प्रमुख न्यूनता अर्थात् एकरूपता के अभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। 'सरस्वती' पत्र का सम्पादन करते हुए उन्होने अनेक लेखको को प्रोत्साहित किया, उनकी रचनाओ का सशोधन किया तथा समय-समय पर लेखको के ग्रन्थो की भापा का भी सुधार किया।

द्विवेदी-युग मे, आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य को प्रौढता तथा परिमार्जन प्रदान करने वाले लेखको मे प० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', अध्यापक पूर्णसिंह, गणेशशकर विद्यार्थी, शिवपूजन सहाय आदि प्रमुख हैं और इनके योगदान का भी विशेप महत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते है कि द्विवेदी-युग मे आकर हिन्दी-गद्य के स्वरूप को स्थिरता मिली, उसमे प्रौढता आई तथा उसकी भाषा मे प्रचुर परिमार्जन हुआ। गद्य की भापा मे परिष्कार होने के साथ ही साथ, उसमे सरलता तथा व्यजना शक्ति का प्रवेश हुआ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि हिन्दी साहित्य के उद्यान को निर्बाध

रूप से पल्लवित, पुष्पित तथा विकसित करने के लिए द्विवेदी जी ने बड़ी लगन से उसकी भूमि को उपजाऊ बनाया और यह उस उपजाऊ भूमि का ही परिणाम है कि हिन्दी-साहित्य का उद्यान निरंतर विकसित और समृद्ध होता जा रहा है।

५. खड़ी-बोली हिन्दी-गद्य का चरमोत्कर्ष काल—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युग)

द्विवेदी युग मे, यद्यपि हिन्दी-गद्य मे परिमार्जन हो रहा था और वह परिपक्वता की ओर बढ रहा था, परन्तु फिर भी कुछ दुर्बलताएँ रह गई थी। किन्तु हिन्दी-साहित्य में आचार्य शुक्ल के प्रवेश के साथ ये दुर्बलताएँ भी समाप्त हो गईं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का युग ऐसा युग था जिसमे पहली बार हिन्दी-गद्य अपनी जातीय तथा व्यक्तिगत शैली का विकास कर सका। इस जातीय शैली के विकास मे अनेक भाषाओ की शैलियों का प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दी-गद्य को यदि एक ओर अंग्रेजी ने अभिव्यञ्जना शक्ति दी, तो बंगला मे मधुरता देकर सरस बनाया, मराठी ने यदि गम्भीर रहना सिखाया तो उर्दू ने प्रवाह से युक्त किया।

आचार्य शुक्ल ने इस हिन्दी-गद्य को न केवल अपनी प्रखर प्रतिभा तथा मौलिक चिन्तन-शक्ति से परिमार्जित तथा प्रौढ किया बल्कि इसको उन गुणो से युक्त किया जिससे हिन्दी-गद्य एक नवीन आभा से चमक उठा। इन गुणो मे प्रमुख थे—अर्थ-गाम्भीर्य, अभिव्यक्ति का संयम तथा समासत्व की शक्ति।

इस युग का गद्य गम्भीर विचारो को वहन करने मे सफल हुआ, गहन चिन्तनजन्य विचारो की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति से युक्त हुआ।

६ हिन्दी-गद्य की विभिन्न विधाएँ—इस प्रकार हम यह पाते है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् हिन्दी-

किया, जिसे आगे चलकर विकसित होना था। वाद मे इसी पत्र मे 'प्रसाद' की कहानियाँ भी प्रकाशित होने लगी।

२. हिन्दी कहानी का विकासकाल—इस काल की प्रमुख विशेषता है—कथा-विकास के लिए मनोविज्ञान का प्रयोग। 'पात्रो' का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर होने लगा। मनोवैज्ञानिक कथानको का वीजारोपण प्रेमचन्द की प्रथम कहानी 'पच परमेश्वर' से होता है जो 'सरस्वती' मे जून १९१६ मे प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर १९१८ ई० से प्रकाशित मासिक पत्र 'हिन्दी गल्पमाला' से इस प्रकार की कहानियो को विशेष प्रोत्साहन मिला।

सन् १९२५ का वर्ष हिन्दी-कहानियो के सम्बन्ध मे एक नवीन विशेषता को लेकर सामने आया। इस काल मे हिन्दी-कहानियो मे दो प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं—एक तो यथार्थवादी तथा दूसरा आदर्शवादी। यथार्थवादी कहानीकारो मे प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा तथा चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' प्रमुख हैं। आदर्शवादी दृष्टिकोण रखने वाले कहानीकारो मे जयशकर 'प्रसाद', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा राधिकारमण प्रसाद सिह प्रमुख है।

हिन्दी-कहानी के विकास के इस युग मे प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथा-साहित्य पर अपनी प्रतिभा, मौलिकता तथा जागरूकता की अमिट छाप डाली। एक प्रकार से इनका व्यक्तित्व हिन्दी के कथा-साहित्य पर छाया रहा। उनकी कहानियो की सख्या ३०० के ऊपर ही है। इन कहानियो का मुख्य विपय ग्रामीण-जीवन के विभिन्न पक्ष हैं। प्रेमचन्द जी की प्रमुख विशेपता यह थी कि वे युग-विशेप के अनुकूल अपने को वरावर परिवर्त्तित करते रहे। कथा-साहित्य की इस यात्रा मे उनकी लेखनी ने कई मोडो को पार किया। सामाजिक जीवन के सत्य से प्रारम्भ होकर वह अनुभूति एव मनोविज्ञान के सत्य तक आ पहुँचे थे। उन्होने स्वत. कहा है—

"सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।"

हिन्दी-कहानी के इस विकास-काल मे अनेक कहानीकार, प्रेमचन्द से प्रेरणा पाते रहे। इस विकास-काल की कहानियो के प्रमुख रूप से पाँच आधार मिलते हैं—

१ चरित्र-चित्रण की प्रधानता, २ वातावरण की प्रधानता, ३. कथानक की प्रधानता, ४ कार्य की प्रधानता तथा ५ अन्य विषयो की कहानियाँ।

इस युग मे इस तरह की कहानियो की अधिकता है जिसमे चरित्र-चित्रण को प्रमुखता दी गयी है। इस प्रकार की कहानियो मे 'पात्रो' का सहज एव सुन्दर चित्रण ही कहानीकार का लक्ष्य होता है। इस प्रकार की कहानियों के सर्वश्रेष्ठ कलाकार प्रेमचन्द हैं। उनकी 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी', 'सारधा' आदि कहानियाँ सुन्दर उदाहरण हैं।

वातावरण-प्रधान कहानियो का भी इस युग मे विकास हुआ। इस प्रकार की कहानियो मे कथानक के विकास का मूल आधार वातावरण को बनाया जाता है। इस प्रकार के वातावरण प्रधान कहानी-लेखको मे 'प्रसाद', सुदर्शन, तथा गोविन्दवल्लभ पत प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'हृदयेश' तथा राधिकारमण प्रसाद सिह का भी, इस दिशा मे योगदान है। 'प्रसाद' की 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', बिसाती' आदि वातावरण-प्रधान कहानियाँ इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

इनके अतिरिक्त उन कहानियो का भी पर्याप्त सृजन हुआ जिनमे कथानक की प्रधानता है। इस प्रकार के कहानीकारो मे 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का विशेष महत्त्व है।

कार्य-प्रधान कहानी मे आदि से अन्त तक 'कार्य' के महत्त्व पर बल रहता है। कार्य की प्रधानता से कहानियो मे तीव्रगति बनी रहती है और कथानक रोचक हो जाता है। इस प्रकार के कहानीकारो मे गोपालराम

गहमरी तथा दुर्गाप्रसाद खत्री की क्रमशः जासूसी तथा वैज्ञानिक कहानियं का विशेष महत्त्व है।

इन प्रधान वर्गों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कहानियाँ भी लिखं गयी। इनमे जी० पी० श्रीवास्तव, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द आदि कं हास्य-व्यग्य प्रधान कहानियाँ तथा 'प्रसाद', आचार्य चतुरसेन शास्त्री एः वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक कहानियो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है

३. **हिन्दी कहानियों का यथार्थवादी स्वरूप**—प्रेमचन्द-युग वे उत्तरार्द्ध या अन्तिम चरण मे आदर्श की मनोरम कल्पना की घुध छटने लगं थी। कहानीकार यथार्थ की भूमि पर उतरने लगे थे और कहानियो मे यथार्थ के कटु और नग्न चित्रण को प्रोत्साहन मिलने लगा था। आदर्श की कल्पना मे सुखद हिलोरें लेता, उज्ज्वल भविष्य के सुन्दर स्वप्नो मे झूमता कहानीकार अचानक चौंक उठता है, चारो ओर ओर देखता है और कटु लेकिन सत्य यथार्थ का सामना करता है।

यही वह यथार्थ है जिसकी तीव्रता, प्रेमचन्द-युग के कथाकार से लेकर आधुनिक युग की नई-कहानी के कलाकारो की कहानियो तक मे निरतर अभिव्यक्त होती रही है। इस यथार्थ का वोध कथाकार विभिन्न रूपो मे करता है। कहीं व्यक्तिगत कुण्ठा है, अवसाद है, कहीं पीढियो का संघर्ष है, कहीं पारिवारिक विघटन है, कहीं सामाजिक मूल्यो की टकराहट है और उनकी टूटन है। इन सभी का वोध कथाकार को होता है और 'कहानी' के माध्यम से इनको व्यक्त करता है।

यथार्थ की इस अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न कहानीकार, विभिन्न दृष्टिकोणो का सहारा लेते हैं। कोई कथाकार समाज के स्थापित मूल्यो, प्राचीन परम्पराओ के प्रति विद्रोही हो उठा है, कोई मनोविज्ञान से प्रभावित होकर मनोविश्लेपण को कथाकार का आधार वना रहा है, तो कोई कथाकार फ्रॉयड के यौनवाद मे प्रभावित होकर हिन्दी-कहानियो को एक नवीन गति दे रहा है, तो दूसरी ओर कोई कहानीकार मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित

होकर वर्ग-संघर्ष की तीव्रता को अभिव्यक्ति दे रहा है और कहीं कोई कलाकार हिन्दी-कहानी के प्रांगण में हास्य-व्यंग्य का गुलाल उड़ा रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि आज की हिन्दी-कहानी का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

हिन्दी-कहानीकारों का एक वर्ग विद्रोही वर्ग है। इसके प्रतिनिधि पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' जी हैं। पूँजीवादी व्यवस्था, सामाजिक कुरीतियाँ, मिथ्या परम्पराएँ इनकी तीक्ष्ण लेखनी के लक्ष्य रहे हैं। इन सभी को अपनी कहानियों में आपने यथार्थ चित्रण किया है। कहीं-कहीं यह यथार्थ अति नग्न हो गया है। अपनी जोशीली तथा प्रवाहपूर्ण शैली के लिए आप प्रसिद्ध हैं। 'दोजख की आग', 'चिनगारियाँ', 'सनकी अमीर' आदि कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी परम्परा के एक और प्रसिद्ध कहानीकार हैं—आचार्य चतुरसेन शास्त्री। आपकी प्रसिद्ध कहानियों के प्रकाशित संग्रह—'रजकण' तथा 'अक्षत' हैं। 'उग्र' की भाँति आपकी भाषा भी बहुत ओजस्विनी तथा प्रवाहपूर्ण है।

मनोविश्लेषणात्मक भूमि पर आधारित कहानियों के प्रतिनिधि कहानीकार जैनेन्द्र हैं। इनकी कहानियों में मनोविज्ञान के छाए रहने के कारण बौद्धिक रोचकता बनी रहती है। इनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी तथा अध्यात्मवादी अधिक है। चरित्र-चित्रण तथा शैली को इन्होंने अधिक महत्त्व दिया है। आपकी कहानियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, यथा—'वातायन', 'जयसन्धि', 'स्पर्धा' इत्यादि।

मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली पर आधारित कहानी की रचना करने वाले कहानीकारों में जैनेन्द्र के पश्चात् प्रमुख हैं अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी। परन्तु अन्तर इतना है कि जैनेन्द्र का मनोविश्लेषण जहाँ निजी जीवन के अनुभवों पर आधारित है, वहीं अज्ञेय तथा जोशी, फ्रॉयड के यौनवाद से प्रभावित हैं। हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में, मानव-मन की दमित वासनाओं तथा कुण्ठाओं का सजीव तथा उन्मुक्त चित्रण करने में जो सफलता अज्ञेय

तथा जोशी को मिली है, वह किसी अन्य कहानीकार को नही मिली है। जोशी जी के प्रसिद्ध कहानी-सग्रह हैं—'रोमाटिक और छाया', 'ऐतिहासिक कथाएँ' इत्यादि। अज्ञेय जी के प्रसिद्ध सग्रह हैं—'विपथगा', 'परम्परा', 'जयदोल' आदि।

सामाजिक विषमता, वर्ग-भेद आदि से क्षुब्ध अनेक कथाकारो का मन 'मार्क्सवाद' से प्रभावित हुआ है। जिनकी कहानियों पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव है, इन कहानीकारो मे अग्रणी हैं यशपाल। इनकी कहानियो मे सामाजिक कुरीतियो की कटु आलोचना है। आप कला तथा जीवन मे स्वाभाविकता के पक्षपाती हैं। आपके प्रसिद्ध कहानी सग्रह हैं—'अभिशाप', 'ज्ञानदान', 'तर्क का तूफान', 'फूलो का कुर्ता' इत्यादि। यशपाल के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता दृष्टिकोण रखने वाले दूसरे प्रसिद्ध कथाकार हैं उपेन्द्रनाथ अश्क। 'पिंजरा', 'पाषाण', 'डलो', 'मोती' आदि इनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

हिन्दी कहानियो मे हास्य की छटा बिखेरने वाले कथाकारो मे प्रमुख है कृष्णदेव प्रसाद गौड 'बेढब बनारसी', अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग इत्यादि। इन्होने विविध विषयो को अपने हास्य तथा व्यग्य का आधार बनाया।

इन कहानीकारो के अतिरिक्त अनेक नयी कहानी के कहानीकार है जो हिन्दी-कहानी के विकास मे निरन्तर योगदान दे रहे है। इनमे प्रसिद्ध हैं—राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, निर्मल वर्मा, रामकुमार, अमृतराय, विष्णु प्रभाकर, मन्नू भण्डारी, चन्द्रकिरन सौनरिक्सा, रमेश बक्षी, हरिशकर परसाई, शरद जोशी इत्यादि।

उपन्यास—हिन्दी-गद्य-साहित्य के अन्य अगो के समान उपन्यास का आविर्भाव भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ अर्थात् भारतेन्दु-युग मे हुआ। हिन्दी साहित्य मे उपन्यासो के आविर्भाव के पूर्व ब्रज-साहित्य मे

इस विद्या का विकास होने लगा। वग-साहित्य मे उपन्यासो के सृजन का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पडा।

हिन्दी उपन्यास की विकास-परम्परा को ध्यान मे रखते हुए हम इमको तीन कालो मे विभाजित कर सकते हैं—

(अ) पूर्व प्रेमचन्द-युग, (आ) प्रेमचन्द-युग और (इ) प्रेमचन्दोत्तर-युग।

(अ) पूर्व प्रेमचन्द-युग—प्रेमचन्द के पूर्व युग में साहित्य-चेतना की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं। पहली प्रवृत्ति थी मनोरजन की तथा दूसरी सामाजिक जागरण की। उस युग की उपन्यास-रचना मे इन दोनो ही प्रवृत्तियो का प्रभाव मिलता है।

पूर्व प्रेमचन्द-युग मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के अन्य अगो की श्रीवृद्धि करते हुए एक उपन्यास भी लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु वह पूर्ण न हो सका। उस युग का महत्त्वपूर्ण उपन्यास श्रीनिवासदास-कृत 'परीक्षा-गुरु' है। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि हिन्दी का यह सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास है। इसमे उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति अधिक है। वस्तुत सुधारवादी दृष्टिकोण को लिए यह एक साधारण-सा उपन्यास है।

इस काल में कई प्रकार के उपन्यास लिखे गए। तिलिस्मी तथा ऐयारी पूर्ण, ऐतिहासिक, प्रेमाख्यानक, तथा सामाजिक उपन्यासो का सृजन हुआ।

१. तिलिस्मी तथा ऐयारी पूर्ण उपन्यास—इस प्रकार के उपन्यासो के क्षेत्र मे देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास—'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकाता सन्तति' इतने लोकप्रिय हुए कि केवल इन्हे ही पढने के लिए लोगो ने हिन्दी सीखनी प्रारम्भ की। इनके अतिरिक्त हिन्दी के प्रथम जासूसी उपन्यास-लेखक गोपालराम गहमरी के

उपन्यास भी बहुत लोकप्रिय हुए। यह सत्य है कि इन उपन्यासो मे कलात्मकता का अभाव है, पर इनके ऐतिहासिक महत्त्व को कम करके नही आँका जा सकता है।

२. **ऐतिहासिक उपन्यास**—इस युग मे अनेक ऐतिहासिक उपन्याम लिखे गए। पर इन उपन्यासो मे ऐतिहासिकता का अभाव है। तिलिस्मी उपन्यासो का प्रभाव इन पर स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासकारो मे किशोरीलाल गोस्वामी, व्रजनन्दन सहाय, बलदेवप्रसाद मिश्र, कृष्णप्रकाश सिह अखौरी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमे व्रजनन्दन सहाय के 'लाल चीन' तथा मिश्र बन्धुओ के 'वीरमणि' को ऐतिहासिकता की दृष्टि से थोडा सफल कहा जा सकता है।

३ **प्रेमाख्यानक उपन्यास**—ऐतिहासिक उपन्यासो के अतिरिक्त इस काल मे प्रेम के रूढिबद्ध वर्णन पर आधारित उपन्यास भी लिखे गए जिन्हे प्रेमाख्यानक उपन्यास की सज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार के उपन्यासकारो मे किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ मिश्र, काशीप्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

४ **सामाजिक उपन्यास**—सामाजिक जीवन की घटनाओ तथा जन-जीवन की समस्याओ को आधार बनाकर, सामाजिक उपन्यासो की रचना की गई। इन उपन्यासो मे बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान', राधाकृष्णदास का 'नि सहाय हिन्दू', किशोरीलाल गोस्वामी का 'लवग-लता' आदि सामाजिक उपन्यासो के साथ 'हरिऔध' का 'अधखिला फूल' तथा लज्जाराम मेहता का 'आदर्श हिन्दू' सुधारवादी सामाजिक उपन्यास की परम्परा मे रखे जा सकते हैं।

५ · **अनूदित उपन्यास**—इस युग मे दूसरी भाषा के उपन्यासो का अनुवाद भी खूब हुआ। विशेष रूप से वग-भाषा के उपन्यासो का अनुवाद हुआ। वग-भाषा के उपन्यासो का अनुवाद करने वालो मे प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधर सिह, कार्तिकप्रसाद खत्री आदि के

नाम महत्त्वपूर्ण हैं। बगला उपन्यासो के अतिरिक्त उर्दू, मराठी, गुजराती तथा अग्रेजी भाषा के अनेक उपन्यासो का भी अनुवाद हुआ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्व प्रेमचन्द-युग मे न केवल कई प्रकार के मौलिक उपन्यास ही लिखे गए, वरन् अन्य भाषायो से अनूदित भी किए गए । इन उपन्यासो मे कलात्मकता का अभाव है । अनूदित उपन्यासो का स्तर मौलिक उपन्यासो मे अच्छा है ।

इस युग के उपन्यासो की भाषा के तीन रूप देखने को मिलते हैं—सस्कृत मिश्रित हिन्दी, उर्दू मिश्रित हिन्दी तथा सरल हिन्दी । शैली के भी तीन प्रकार मिलते हैं— वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक तथा सम्भाषण ।

(आ) प्रेमचन्द-युग—हिन्दी-उपन्यास क्षेत्र मे प्रेमचन्द के पदार्पण के साथ एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ जिसे हिन्दी उपन्यास साहित्य का समृद्ध-युग कहा जा सकता है। प्रेमचन्द वस्तुत प्रथम मौलिक उपन्यासकार थे। इनके उपन्यासो मे प्रथम बार कला का जीवन से सम्बन्ध जुडा । जनसामान्य की अनुभूतियो तथा क्रियाकलापो को हिन्दी के उपन्यासो मे स्थान मिला । इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यास जनसामान्य की भावना के प्रतीक बन गए ।

अब तक उपेक्षित ग्रामीण-जीवन को, उसकी समस्याओ को, उसकी परिस्थितियो को, प्रेमचन्द के उपन्यासो मे सही प्रतिनिधित्व मिला। उनके पात्र सभी प्रकार के है । उनमे मे राजा भी है, रक भी हैं, उच्च वर्ग भी हैं, निम्न वर्ग भी है, उदात्त भी हैं, अनुदात्त भी हैं । परन्तु, प्रेमचन्द का आदर्शवादी रूप, बाद के उपन्यासो तक स्थिर न रह सका । 'सेवासदन' से 'गोदान' तक आते-आते उनके विचारो मे क्रातिकारी परिवर्तन हो चुके थे । उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अब यथार्थोन्मुख आदर्शवाद बन गया था । 'गोदान' उनकी इसी जीवन-दृष्टि का परिणाम है ।

'सेवासदन,' 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला,' 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' तथा 'मगलसूत्र' प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास है ।

इन्ही उपन्यासो के माध्यम से प्रेमचन्द ने अपने युग की सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियो का पूर्ण चित्र अकित किया है।

प्रेमचन्द-युग मे अन्य प्रतिभावान् उपन्यासकारो का उदय हुआ। इनमे से अधिकाश उपन्यासकारो ने प्रेमचन्द से प्रेरित और प्रभावित होकर उपन्यास का सृजन प्रारम्भ किया। इन उपन्यासकारो मे विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (माँ तथा भिखारिणी), श्रीनाथ सिह (उलझन, क्षमा, जागरण आदि), शिवपूजन सहाय (देहाती दुनिया), चडीप्रसाद 'हृदयेश' (मगल प्रभाव, मनोरमा), राजा राधिकारमणप्रसाद सिह (सस्कार, राम और रहीम आदि), प्रतापनारायण श्रीवास्तव (विदा, विकास इत्यादि) आदि उपन्यासकार तथा उनके उपन्यास प्रसिद्ध हैं। इन सभी उपन्यासो मे प्रेमचन्दयुगीन आदर्शवाद परिलक्षित होता है।

प्रेमचन्द-युग के ही दो अन्य उपन्यासकार—'प्रसाद' तथा सियाराम शरण गुप्त भी हैं जिनका अपना अलग महत्त्व है, क्योकि ये प्रेमचन्द-युग की परम्परा से भिन्न है। जयशकर प्रसाद के उपन्यासो, 'ककाल', 'तितली', 'इरावती' (अधूरा उपन्यास) मे प्रेमचन्दयुगीन आदर्शवाद के स्थान पर शुद्ध यथार्थवाद का चित्रण है। इस प्रकार 'प्रसाद' के उपन्यासो मे एक विचित्र विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। क्योकि उनके काल मे नाटको मे आदर्शवाद पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है।

सियाराम शरण के प्रथम उपन्यास 'गोद' मे प्रेमचन्द-युग की ही गाधीवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है। पर अन्तर यह है कि प्रेमचन्द ने गाधीवाद के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया था, और गुप्त जी के इस उपन्यास मे गाधीवादी जीवन-दर्शन की आध्यात्मिक चेतना व्यक्त हुई है। प्रेमचन्द के उपन्यासो सा आक्रोश तथा क्षोभ, गुप्त जी के उपन्यासो मे नही दिखाई देता है।

(इ) **प्रेमचन्दोत्तर युग**—प्रेमचन्दोत्तर-युग मे उपन्यासकारो के दो समानान्तर वर्ग कार्य कर रहे है। पहला वर्ग इन उपन्यासकारो का है जो

प्रेमचन्द-युगीन परम्परा से प्रभावित रहे हैं परन्तु बाद मे जिन्होने शीघ्र ही परिवर्त्तित होते युग के अनुरूप ही अपने को भी बदल लिया है। दूसरा वर्ग इन उपन्यासकारो का है जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उपन्यास क्षेत्र मे आए है तथा नाना सम्भावनाओ का सकेत दे रहे हैं।

प्रेमचन्दोत्तर-युग के लेखको के उपन्यासो का वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य है। क्योकि इनमे से किसी भी उपन्यास मे किसी एक ही प्रवृत्ति को महत्त्व नही दिया गया है, वरन् कई प्रवृत्तियो का समाज-चित्रण है। परन्तु सुविधा की दृष्टि से इस काल के उपन्यासो को निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

१ सामाजिक उपन्यास, २ ऐतिहासिक उपन्यास, ३ आचलिक उपन्यास तथा ४. साम्यवादी उपन्यास।

१. सामाजिक उपन्यास—समाज की विषम परिस्थितियाँ, असमानता की स्थिति, निम्न मध्य-वर्ग का जीवन, प्रेम-सम्बन्ध, सामाजिक रूढियाँ आदि इन सामाजिक उपन्यासो का विषय रहा है जिस प्रकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की प्यास' नामक उपन्यास मे विधवाश्रमो मे किए जाने वाले दुराचारो का नग्न चित्रण किया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गिरती-दीवारें' निम्न मध्य-वर्ग के सघर्षपूर्ण जीवन का यथार्थ चित्रण है।

सामाजिक उपन्यासकारो मे प्रसाद, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', आचार्य चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इत्यादि प्रमुख हैं।

२. ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यासो मे दो मुख्य धाराओ को देखा जा सकता है—

१ शुद्ध ऐतिहासिकता का निर्वाह।

२ ऐतिहासिक वातावरण मे कल्पना का निर्वाह।

शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासो के अन्तर्गत वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ कुडार' तथा 'झाँसी की रानी' उल्लेखनीय हैं। 'झाँसी की रानी' मे तो इतनी

अधिक ऐतिहासिकता है कि यह एक साहित्यिक कृति के स्थान पर इतिहास की पुस्तक लगती है।

ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर लिखे गये काल्पनिक उपन्यासो मे वृन्दावनलाल वर्मा की 'विराटा की पद्मिनी', चतुरसेन की 'वैशाली की नगर वधू' उदाहरण रूप मे ले सकते है।

इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासकारो मे राहुल साकृत्यायन, रागेय राघव, यशपाल, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आनन्द प्रकाश जैन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारो मे सर्वाधिक सफल कहे जा सकते हैं—वृन्दावनलाल वर्मा। 'गढ कुडार' 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', मृगनयनी', 'दुर्गावती', 'सोती आग' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास है।

हिन्दी साहित्य मे अनेक प्रसिद्ध उपन्यासो के होते हुए भी, हिन्दी साहित्य की यह धारा बहुत क्षीण रही है। इस धारा को पुन. विस्तार देने तथा प्रवाहमयी बनाने का सतत उद्योग कर रहे हैं, आधुनिक युग के युवा उपन्यासकार वाल्मीकि त्रिपाठी। भारतीय अतीत के गौरव को उपन्यासो के माध्यम से जाग्रत करने के लिए सतत प्रयत्नशील वाल्मीकि त्रिपाठी के अब तक आठ उपन्यास प्रकाशित हो चुके है, जिनमे 'दुरभिसधि' उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत है।

६ **मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास**—मनोविश्लेपण के स्तर पर आधारित उपन्यास लिखने वालो मे इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र तथा अज्ञेय अग्रणी है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने मनोविश्लेषण को अपने उपन्यासों का आधार बनाया है तथा उसे ही कला का साधन माना है। इनके उपन्यासो मे फ्रॉयड तथा मार्क्स का समुचित प्रभाव देखा जा सकता है। इनका विश्वास है कि इन दोनो के इस समन्वय के आधार पर समाज का स्वरूप-विकास हो सकता है। जोशी जी के अधिकतर उपन्यासो मे वैयक्तिक जीवन का ऐकान्तिक विश्लेपण और विवेचन है। पर किसी-किसी उपन्यास मे

सामाजिक प्रश्न और समस्याएँ भी महत्त्वपूर्ण रूप से उभरी हैं। उदाहरण के लिए 'मुक्तिपथ' इसी प्रकार का उपन्यास है।

जोशी जी के अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे 'लज्जा' 'सन्यासी', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी', 'जहाज का पछी' आदि उल्लेखनीय हैं। वस्तुत हिन्दी उपन्यासो मे मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के जन्मदाता जोशी जी हैं।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासो के क्षेत्र मे दूसरे प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र जी हैं। इनके उपन्यासो मे 'आत्म पीडन' का स्वर वहुत तीव्र तथा गहरा है। गाधीवाद के अध्यात्म पक्ष का प्रभाव इनके उपन्यासो पर स्पष्ट देखा जा सकता है। इनके उपन्यासो का मूलतत्त्व है समर्पण, ऐसा पूर्ण समर्पण जहाँ 'स्व' तथा 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है, अह तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार उनके उपन्यासो मे काम-पीडा तथा समर्पण के चित्रण की तीव्रता है।

जैनेन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यासो मे 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'मुक्ति वोध' आदि का नाम लिया जा सकता है।

इमी प्रवृत्ति के तीसरे प्रमुख उपन्यासकार हैं—अज्ञेय। अज्ञेय का जीवन एव क्रान्तिकारी का जीवन रहा है। इनका विद्रोह एक विद्रोही का व्यक्तित्व है, जो अहवादी है तथा हर स्थापित मूल्य और मान्यता का विद्रोही है। इनके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए है—'शेखर एक जीवनी'' 'नदी के द्वीप' तथा 'अपने-अपने अजनवी'। तीनो ही उपन्यास इनकी कलात्मक प्रौढता को स्पष्ट करते हैं। प्रथम उपन्यास पर रोमा रोला के 'जा क्रिस्ताफ' का स्पष्ट प्रभाव है। द्वितीय उपन्यास अर्थात् 'नदी के द्वीप', मध्यवर्गीय जीवन के सघर्षण की आन्तरिक रहस्य की कहानी कहने वाला विशिष्ट उपन्यास है। 'अपने-अपने अजनवी' अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित है, जहाँ ईश्वर, मृत्यु सव झूठ है। यदि कुछ सत्य है तो वह है व्यक्ति की स्वतन्त्रता।

४ आचलिक उपन्यास--आचलिक उपन्यास हिन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि है। आचलिक उपन्यास का कथानक किसी अविकसित या अर्द्ध विकसित अज्ञात अचल अथवा किसी अपरिचित या अर्द्ध परिचित जाति के जीवन या क्रिया-कलापो पर आधारित होता है।

आचलिक उपन्यासकारो मे फणीश्वरनाथ 'रेणु', नागार्जुन, रागेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी, शैलेश मटियानी, राही मासूम रजा आदि प्रसिद्ध हैं। इनमे भी सर्वश्रेष्ठ आचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' है। इनका उपन्यास 'मैला आचल' बहुत प्रसिद्ध हुआ। 'परती परिकथा' रेणु का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास है। नागार्जुन का 'वलचनमा' का स्थान आचलिक उपन्यासो मे प्रमुख है। 'आधा गाँव' राही मासूम रजा का चर्चित उपन्यास है।

५ साम्यवादी उपन्यास--इन उपन्यासो मे युग सघर्ष का चित्रण हुआ है। वर्त्तमान समाज के खोखलेपन का, जर्जर मान्यताओ का, शोषण का, वर्ग-सघर्ष का मार्मिक चित्रण इन उपन्यासो मे हुआ है। राहुल साकृत्यायन, यशपाल आदि इस कोटि के प्रसिद्ध उपन्यासकार है। राहुल जी का 'वोल्गा से गगा तक', यशपाल का 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' आदि वे प्रसिद्ध उपन्यास हैं जो साम्यवादी प्रभाव को ग्रहण किए हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी-साहित्य की विधा उपन्यास का निरन्तर विकास ही हो रहा है। उपर्युक्त वर्ग के अन्तर्गत आए उपन्यासकारो के अतिरिक्त अन्य और उपन्यासकार हैं जो अपनी कृतियो द्वारा हिन्दी-साहित्य की निरतर श्रीवृद्धि कर रहे है। देवेन्द्र सत्यार्थी, धर्मवीर भारती, यज्ञदत्त, अमृतलाल नागर, लक्ष्मीनारायण लाल, उषादेवी मित्रा, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव, उदयशकर भट्ट और विनोदशकर व्यास, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, वाल्मीकि त्रिपाठी, राही मासूम रजा, शिवानी, नरेश मेहता आदि ऐसे ही उपन्यासकार है जिनसे हिन्दी उपन्यास-साहित्य को वहुत आशाएँ हैं।

नाटक

आधुनिक गद्य-साहित्य की अन्य महत्त्वपूर्ण विधा है 'नाटक'। वस्तुत गद्य-साहित्य की परम्परा मे मूलत 'नाटक' ही रहे हैं। विशुद्ध नाट्य-रीति को ध्यान मे रखकर लिखा गया हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक 'नहुष' है। इस नाटक के रचनाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्र (गिरधरदास) थे। इसके उपरान्त हिन्दी-साहित्य के गगन-मण्डल पर भारतेन्दु का उदय हुआ। इनके उदय के साथ ही हिन्दी नाटको का भी भाग्योदय हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम बगला नाटक 'विद्या सुन्दर' का अनुवाद किया। इसके पश्चात् आपने अनेक नाटको का अनुवाद किया तथा मौलिक नाटक लिखे। इनके मौलिक नाटको मे 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'सत्य-हरिश्चन्द्र' आदि प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् भी अनूदित तथा मौलिक नाटको के सृजन की परम्परा चलती रही। पडित रूपनारायण पाण्डेय ने बगला-नाटको का, लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक', 'उत्तररामचरित' आदि के अनुवाद प्रस्तुत कर अनुवाद परम्परा को अग्रसारित किया था। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट-चपेट' प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी-परिणय', प० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'सीता वनवास' आदि लिखकर मौलिक-नाटको के सृजन का प्रवाह बनाए रखा। हिन्दी-साहित्य मे जयशकर प्रसाद के प्रवेश से हिन्दी नाटको का सुखद विकास प्रारम्भ हुआ। उनके साहित्यक नाटको की परम्परा ने हिन्दी नाट्य-साहित्य मे क्रातिकारी परिवर्त्तन किए। आपने भारतीय एव पाश्चात्य नाट्यशिल्प का समन्वय करके अपनी नाट्य रचना को विशेष गरिमा प्रदान की।

भारतेन्दु युग से लेकर आधुनिक युग तक हिन्दी का नाट्य-साहित्य निरन्तर विकसित होता रहा। इन नाटको का परिचय प्राप्त करने के लिए सुविधा की दृष्टि से इन्हे निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

१ पौराणिक नाटक, २ ऐतिहासिक नाटक, ३ सामाजिक नाटक, ४ प्रतीकात्मक नाटक, ५. गीति नाटक, ६. समस्यामूलक नाटक तथा ७ एकाकी नाटक।

पौराणिक नाटक—पौराणिक नाटको का आधार, तीन मुख्य विशेषताएँ होती हैं—कथानक की धार्मिकता, अति प्राकृत दृश्यो की योजना तथा प्राचीनतम विश्वासो एव मान्यताओ का निरूपण।

इन दृष्टि से लिखे गए पौराणिक नाटको को हम तीन वर्गों मे बाँट सकते हैं। पहले वर्ग मे बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक के नाटक आते हैं। इन नाटको मे साहित्यिकता तथा कलात्मकता का अभाव है।

दूसरा वर्ग उन पौराणिक नाटको का है जो अपेक्षाकृत कलात्मक, साहित्यिक तथा सुरुचिपूर्ण हैं। इनमे पौराणिक युग के वातावरण की रक्षा का भी सुन्दर प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के नाटककारो मे बदरीनाथ भट्ट, गोविन्दबल्लभ पत, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, उदयशकर भट्ट आदि प्रमुख है।

तीसरा वर्ग उन नाटककारो का है जिनके नाटक पौराणिक केवल इसलिए कहे जा सकते हैं कि उनके कथानक पुराणो से लिए गए हैं, अन्यथा उनका झुकाव ऐतिहासिकता की ओर अधिक है। इस प्रकार के नाटककारो मे प्रसाद, सुदर्शन आदि प्रमुख हैं।

२ **ऐतिहासिक नाटक**—ऐतिहासिक नाटको के क्षेत्र मे सर्वाधिक सफलता 'प्रसाद' को मिली है। भारतीय इतिहास के पृष्ठो मे छिपे अतीत के गौरव को उन्होने अपने नाटको मे पुन प्रतिष्ठित किया है। उनके नाटको के माध्यम से हिन्दू-सस्कृति के श्रेष्ठ तत्त्वो की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होने न तो ऐतिहासिकता का इतना निर्वाह किया है कि नाटक साहित्यिक कृति न लगकर इतिहास का पिष्टपेषण मात्र लगे और न कल्पना का ही इतना रग भरा कि इतिहास का महत्त्व ही समाप्त हो जाए। उनके नाटको मे इतिहास तथा कल्पना का अद्भुत समन्वय है।

'प्रसाद' के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं—'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी'।

'प्रसाद' के समय तथा पश्चात् मे भी अनेक नाटककारो ने ऐतिहासिक नाटको की रचना की। परन्तु इन नाटको मे 'प्रसाद' के नाटकों की कलात्मकता और ऐतिहासिकता का निर्वाह नही है। इन नाटककारो मे उदयशकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर प्रमुख हैं।

३ सामाजिक नाटक—अन्य नाटको की तुलना मे सामाजिक नाटक कम लिखे गए। कुछ प्रमुख नाटककार तथा उनके सामाजिक नाटक इस प्रकार हैं—गोविन्दवल्लभ पत का 'अगूर की बेटी', सेठ गोविन्ददास का 'प्रकाश और पाकिस्तान', उदयशकर भट्ट की 'कमला' तथा 'अन्तहीन अन्त' इत्यादि।

४ प्रतीकात्मक नाटक—प्रतीकवादी नाटको की परम्परा सस्कृत-साहित्य से ही चली आ रही है। हिन्दी में प्रारम्भिक प्रतीकात्मक नाटको के रूप मे केशव का 'विज्ञान गीता' तथा देव का 'देवमाया प्रपञ्च' मिलते हैं। इस युग के प्रतीकात्मक नाटको मे 'प्रसाद' की 'कामना' तथा पन्त का 'ज्योत्स्ना' प्रसिद्ध हैं।

इन दोनो के अतिरिक्त भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'छलना', सेठ गोविन्ददास का 'नवरस', कुमार हृदय का 'नक्शे का रग', डा० शम्भूनाथ सिह का 'धरती और आकाश', डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस' आदि उल्लेखनीय प्रतीकात्मक नाटक हैं।

५ गीति-नाटक—आधुनिक नाटको की एक अन्य विधा गीति-नाटको की है। हिन्दी साहित्य मे गीति-नाट्य के प्रारम्भ को लेकर विद्वानो मे मतभेद है। कुछ आलोचको के अनुसार प्रसाद का 'करुणालय' हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य है और कुछ आलोचक निराला के 'पंचवटी प्रसग' को सर्वप्रथम गीति-नाट्य मानते हैं। इसमे सन्देह नही कि पचवटी प्रसग

मे भावो की एकरूपता, काव्यात्मकता आदि सभी गुण अपेक्षाकृत कही अधिक पाये जाते हैं।

प्रसाद का 'करुणालय', उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगधा', 'विश्वामित्र', 'राधा' तथा 'कालिदास', पन्त के दो गीति-नाट्य-सग्रह 'रजत शिखर' तथा 'शिल्पी', डा० धर्मवीर भारती का 'अधा-युग', डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'सूखा सरोवर' इत्यादि गीति-नाट्य-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं।

६. **समस्यामूलक नाटक**—हिन्दी मे समस्यामूलक नाटको का जन्म इब्सन तथा बर्नार्ड शा के प्रभाव से हुआ। इस प्रकार के नाटककारो में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को अपने नाटको मे सामाजिक समस्याओ के उद्घाटन मे अतिशय सफलता मिली है। रगमच की दृष्टि से भी इनके नाटक अत्यत सफल हैं। 'स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'उड़ान' आदि इनके प्रसिद्ध समस्यामूलक नाटक हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटको मे नारी तथा पुरुष के सम्बन्ध तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओ का कलात्मक विवेचन किया है। 'सिन्दूर की होली', 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' आदि इनके प्रसिद्ध समस्यामूलक नाटक हैं। इनके अतिरिक्त समस्यामूलक नाटककारो मे प्रेमसहाय सिह, हरिकृष्ण प्रेमी, पृथ्वीनाथ शर्मा, सेठ गोविन्ददास, सूर्यनारायण शुक्ल आदि का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है।

७ **एकांकी नाटक**—हिन्दी नाट्य-साहित्य मे एकाकी नाटको का जन्म कब हुआ, इस विषय में विद्वान् एक मत नही हैं। श्री रामनाथ सुमन की सम्मति मे डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी एकाकियों के जन्मदाता हैं। कतिपय आलोचक 'प्रसाद' के 'एक घूंट' को प्रथम एकाकी मानते हैं। कुछ भी हो, आज हिन्दी नाट्य-साहित्य की यह विधा पर्याप्त समृद्ध हो गयी है। 'प्रसाद' के 'एक घूंट' के पश्चात् भुवनेश्वर का 'कारवा' नामक एकाकी

सग्रह् निकला । इनके एकाकी नाटक सामाजिक समस्या की तीव्र तथा मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं । डा० रामकुमार वर्मा आज के प्रसिद्ध एकाकीकार हैं । उन्होने ऐतिहासिक तथा सामाजिक दोनो प्रकार के एकाकी लिखे हैं । 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'सप्तकिरण' आदि उनके प्रसिद्ध एकाकी सग्रह हैं । 'अश्क' जी भी एक प्रखर एकाकीकार हैं । उनके एकाकियो मे हास्य तथा व्यग्य की मनोहर छटा है । इनके अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर भी कुशल एकाकीकार हैं जिन्होने रेडियो-एकाकियो की माँग पूरा किया है ।

आज के युग मे रेडियो रूपक, ध्वनि नाट्य, फीचर आदि कई प्रकार के लघु नाटक भी लिखे जा रहे हैं ।

निबन्ध

हिन्दी-साहित्य मे निबन्ध का प्रादुर्भाव भारतेन्दु-काल मे ही हो गया था । उस काल से लेकर आधुनिक काल तक हिन्दी-साहित्य मे इस विधा का निरन्तर विकास होता रहा । इस विकास मे मुद्रण-यन्त्र, समाचार पत्रो के प्रकाशन आदि ने भी बडा योग दिया हैं । भारतेन्दु-युग से लेकर आधुनिक युग तक निबन्ध के विकास को समझने के लिए, हम इस समस्त काल के निबधो को सुविधा की दृष्टि से चार भागो मे बाँट सकते हैं—

१ भारतेन्दु-युग, २. द्विवेदी-युग, ३ शुक्ल-युग तथा ४ शुक्लोत्तर-युग।

१. भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु-युग राष्ट्रीय जागरण का उषाकाल था । इस युग के निबधकारो मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ज्वालाप्रसाद, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास आदि प्रमुख हैं ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे । वह हिन्दी के ऐसे प्रथम निबन्धकार हैं जिन्होंने न केवल हिन्दी-साहित्योद्यान मे 'निबन्ध' का बीजारोपण ही किया अपितु उसे पल्लवित और पुष्पित

भी किया । उनके निवन्धो का क्षेत्र वहुत विस्तृत है। धर्म, समाज, राज-नीति, खोज, यात्रा, प्रकृति, आत्मचरित्र, व्यग्य-विनोद आदि नाना विषयो को इन्होने अपने निवन्धो का विषय वनाया और सफल निवंधो की रचना की। सामाजिक कुरीतियो पर प्रहार, धार्मिक आडम्बरो पर तीखा व्यग्य, प्रकृति का मनोरम चित्रण इनके निवंधो की विशेषताएँ है । इनके निवन्धो मे वर्णनात्मक, काव्यात्मक तथा विचारात्मक शैलिया मिलती है ।

भारतेन्दु-युग के दूसरे श्रेष्ठ निवन्धकार वालकृष्ण भट्ट हैं। इनके निवन्धो मे प्रगतिशील विचारो की झलक मिलती है। भट्ट जी के निवन्धो का क्षेत्र भी व्यापक है जिसकी परिधि मे सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक विषय आ जाते है ।

प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु-युग के एक अन्य प्रसिद्ध निवन्धकार हैं। 'ब्राह्मण-पत्र' मे इनके निवन्ध प्रकाशित होते थे। इनकी प्रकृति मस्त तथा व्यक्तित्व स्वच्छन्द था। फलस्वरूप, इनके स्वभाव की यह मस्ती इनके निवन्धो मे आ जाना स्वाभाविक ही है। 'नवीन', 'प्रताप पीयूप' तथा 'प्रताप समुच्चय' नामक तीन निवन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री वदरीनारायण 'प्रेमघन' भी भारतेन्दु-युग के प्रमुख निवन्धकार हैं। आपके निवन्धो का क्षेत्र प्रमुखत सामाजिक रहा है। सामाजिक स्थिति के साथ राजनीतिक स्थिति पर भी आपने निवन्ध लिखे है। इस विषय पर आपने वडी निर्भीकता के साथ लेखनी चलायी है। वालमुकुन्द गुप्त का हिन्दी के क्षेत्र मे आगमन उर्दू से हुआ था। यह अपने व्यग्यात्मक निवन्धो के कारण प्रसिद्ध हैं। जीवन चरित, हिन्दी भाषा, लिपि,व्याकरण आदि इनकी निवन्ध-रचना के क्षेत्र मे आ जाते हैं।

द्विवेदी-युग—इस युग की साहित्यिक चेतना के प्रेरणा-स्रोत आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी है। द्विवेदी-युग मे न केवल भारतेन्दु-युग की भावनाओ, विचारो, शैलियो एव साहित्यिक विधाओ का प्रसार तथा विकास हुआ, अपितु भाषा के सस्कार तथा परिष्कार का भी कार्य हुआ।

यह महत्वपूर्ण कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सशक्त प्रतिभा-सम्पन्न लेखनी से सम्भव हुआ । उन्होंने भाषा के व्याकरणसम्मत रूप के प्रयोग पर बल दिया और हिन्दी-भाषा मे सस्कृत के उपयोगी तत्सम शब्दो के साथ अन्य भाषाओ के भी आवश्यक शब्दों के प्रयोग को स्वीकार किया ।

द्विवेदी-युग के प्रमुख निबन्धकार हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा अध्यापक पूर्णसिंह । निबध के क्षेत्र मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का ऐतिहासिक महत्त्व है । उन्होने न केवल भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा का अध्ययन किया, अपितु पाश्चात्य-लेखको की विशेषताओ का भी मनन किया । इनके निबन्धो की भाषा अत्यत शुद्ध है और रोचकता लिए हुए है । 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'कवि कर्तव्य' आदि उनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं । मौलिक निबन्ध-रचना के साथ उन्होंने बेकन के निबन्धो का 'बेकन विचार-रत्नावली' के नाम से अनुवाद भी किया है ।

द्विवेदी-युग के अन्य सफल एव प्रसिद्ध निबन्धकार बाबू श्यामसुन्दर दास हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये सफल निबधकार के साथ ही एक उच्च-कोटि के आलोचक भी है । इनके निबन्धो मे सूक्ष्म चित्रण तथा विचारो की गभीरता है । व्यास शैली मे लिखे गए उनके निबध सरल तथा स्पष्ट हं । 'भारतीय साहित्य को विशेषताएँ', 'समाज और साहित्य', 'कर्त्तव्य और सभ्यता' आदि आपके प्रसिद्ध निबध हैं ।

पद्मसिंह शर्मा के निबन्ध अपनी व्यग्य प्रधान तथा रोचक शैली के कारण प्रसिद्ध हैं । फडकती हुई भाषा के कारण इनके निबध काफी आकर्षक बन गए हैं । 'पद्य पराग' तथा 'प्रबन्ध मजरी' नामक आपके दो सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । इसके साथ आपने कुछ जीवनियाँ तथा सस्मरणात्मक लेख भी लिखे हैं । मिश्र-बन्धुओ ने अधिक सख्या मे निबन्ध लिखे हैं । ये निबध अपने शिक्षात्मक महत्त्व के कारण प्रसिद्ध हैं ।

भावनापूर्ण निबधो की रचना मे माधवप्रसाद मिश्र के निबंधो का अपना महत्त्व है। इनके निबन्धो का संग्रह 'माधव मिश्र निबधमाला' के नाम से प्रकाशित हुआ है। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने कहानियो की भाँति निबन्ध भी कम लिखे हैं परन्तु उन निबधो मे उनकी कहानियो की भाँति मार्मिकता तथा प्रभावमयता है।

भावनात्मक निबंध रचना मे सरदार पूर्णसिंह का विशिष्ट महत्त्व है। मानवतावादी दृष्टिकोण इनके निबन्धों का आधार है। मौलिक चिंतन तथा प्रगतिशीलता इनके निबन्धो के दो प्रमुख तत्व हैं। 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम' आदि इनके लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध निबन्ध हैं।

शुक्ल-युग—हिन्दी-निबंध साहित्य मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रवेश के साथ ही हिन्दी निबन्ध अपने शीर्ष स्थान पर पहुँच गया। नवीन विचारो से, नवीन अनुभूतियो से, अभिव्यक्ति की नवीन शैलियो से हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का शृंगार होने लगा। हिन्दी निबधो का क्षेत्र 'मनोविज्ञान' की सीमा मे पहुँच गया। इस युग मे निबधो के क्षेत्र मे साहित्यिक, सैद्धान्तिक, मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार के विषय आ गए।

शुक्ल-युग के महत्त्वपूर्ण निबन्धकार हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी इत्यादि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबन्धो से हिन्दी-निबध-साहित्य को शीर्ष स्थान पर पहुँचा दिया। शुक्ल जी जितने श्रेष्ठ निबधकार थे, उतने ही उच्चकोटि के आलोचक भी थे। इनके निबध विचारो की गभीरता, चिन्तन की मौलिकता, विवेचना की सूक्ष्मता तथा परिपक्वता को लिए हुए है।

बाबू गुलाबराय ने द्विवेदी-युग से ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इनके निबन्धो के क्षेत्र मे साहित्यिक, सस्मरणात्मक, मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार के विषय आ जाते हैं। गभीर मनोवैज्ञानिक निबधो के साथ ही साथ

उन्होंने हास्य-प्रधान निबधो की रचना भी की है । आपके 'ठलुआ क्लब', 'फिर निराशा क्यो ?', 'मेरी असफलताएँ', 'कुछ उथले कुछ गहरे' आदि कई निबध-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं ।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी भी निबन्ध क्षेत्र मे विशेष विख्यात हैं। आपके निबधो मे सहज लालित्य पाया जाता है । गम्भीर से गम्भीर विचारो को भी सुबोध और सरल ढग से रखने मे आप सिद्धहस्त हैं । आपके निबधो ने साहित्य, धर्म, समाज आदि सभी विषयो का स्पर्श किया है । 'पत्रपात्र', 'पश्रवन', 'कुछ' तथा 'और कुछ' आपके प्रसिद्ध निबध सग्रह हैं । प० माखनलाल चतुर्वेदी अपने मार्मिक सस्मरणो तथा गद्यात्मक सूक्तियो से युक्त निबन्धो के लिए प्रसिद्ध हैं । आपके निबन्धो मे विचार, भाव, व्यग्य आदि का अद्भुत समन्वय है । 'अमीर इरादे गरीब इरादे' आपका प्रसिद्ध निबध सग्रह है ।

वियोगी हरि अपने भावात्मक निबधो के लिए प्रसिद्ध हैं । इनके विचार-प्रधान निबधो मे भी एक तरह की भावात्मक तन्मयता लक्षित होती है। वियोगी हरि जी ने अनेक समस्याओ को लेकर विविध निबध लिखे हैं। ऐसे निबधो का एक सग्रह 'यों भी तो देखिये' नाम से प्रकाशित हुआ है । रायकृष्णदास भावात्मक निबधो के लिये प्रसिद्ध हैं। इनके निबधो में विचारो की अपेक्षा निजी अनुभूतियो का प्राधान्य है । डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल इतिहास तथा सस्कृति के अन्वेषक, विचारक तथा व्याख्याता के रूप मे प्रसिद्ध हैं । 'पृथ्वीपुत्र', 'माताभूमि', 'कला और सस्कृति', 'वेद विद्या' आदि आपके प्रसिद्ध निबन्ध-सग्रह हैं ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी अपने भावात्मक निबधो के लिए प्रख्यात हैं। आप सामाजिक, सास्कृतिक, साहित्यिक विषयो को अपने 'निबध' की सीमा के भीतर लाए हैं । आपने साहित्य को सास्कृतिक चेतना का सहज परिणाम माना है । 'जीवन यात्रा', 'साहित्यिकी', 'सचारिणी', 'साकल्य', 'धरातल' आदि आपके प्रसिद्ध निबंध-सग्रह हैं ।

शुक्लोत्तर-युग—शुक्ल जी के पश्चात् आज तक लिखे गये निबधों मे हमे एक उस पीढी के दर्शन होते हैं जो विषय तथा शैली दोनो की दृष्टि से नवीन है। इस नवीन पीढी के साथ कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो छायावादी युग से ही लिखते आ रहे है। ऐसे लेखको मे डा० सम्पूर्णानन्द, डा० भगवतशरण उपाध्याय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, यशपाल, रामवृक्ष वेनीपुरी, प० हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि प्रसिद्ध हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द अपने चिन्तन-मनन के लिए विख्यात हैं। इनके निबध गहन-विचारो का वहन करते हैं। 'स्फुट विचार' आपके निबधो का महत्त्वपूर्ण सकलन है। डा० भगवतशरण उपाध्याय 'इतिहास' के खोजी साहित्यकार हैं। इतिहास की मार्मिक घटनाओ को लेकर आपने अनेक प्रभावपूर्ण निबध लिखे हैं। इसके अतिरिक्त सस्कृति तथा कला सम्बन्धी भी अनेको लेख लिखे है। 'साहित्य और कला', 'सास्कृतिक निबंध' आदि आपके प्रसिद्ध निबध-सग्रह हैं। श्री रामवृक्ष वेनीपुरी सस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा-वृत्तान्त तथा ललित निबधो के लिए प्रसिद्ध हैं। वेनीपुरी जी के निबधो मे भावुकता है, सहृदयता है। 'वन्दे वाणी वियानकौ' आपके ललित-निबधो का प्रसिद्ध सग्रह है।

इलाचन्द्र जोशी गभीर चिन्तन-मनन के लिए प्रसिद्ध हैं। आपके अधिकाश निबध मनोवैज्ञानिक चिंतन से युक्त हैं। 'विवेचना', विश्लेषण', 'साहित्य-चिन्तन' आदि आपके महत्त्वपूर्ण निबध-सग्रह हैं।

जैनेन्द्र जी भी चिंतन-प्रधान निबधकार हैं। आपके निबध गाधीवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। 'प्रस्तुत प्रश्न', 'जड की वात', 'पूर्वोदय', 'इतस्ततः' आदि आपके चिंतन प्रधान निबंध-सग्रह हैं। यशपाल एक सफल कथाकार ही नही, उच्चकोटि के निबध-लेखक भी हैं। सामाजिक ढाँचे को वदलने के लिए क्रान्तिकारी परिवर्त्तन की इच्छा का आभास आपके निबधो मे मिलता है। आप मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है जिसका प्रभाव

आपके निबधो पर भी पड़ा है । 'न्याय का सघर्ष', 'बात बात मे बात' आपके महत्त्वपूर्ण निबध-संग्रह हैं ।

प० हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्त्तमान-युग के श्रेष्ठ निबधकार हैं । भारतीय सस्कृति और उसका गौरव आपके निबधो का आधार है । आपके निबधों में आत्मव्यजना की प्रधानता है । सरसता आपके निबधो की विशेषता है । 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', तथा 'कुटज' आदि आपके प्रसिद्ध निबध-सग्रह हैं ।

महादेवी वर्मा अलकृत, भावात्मक, गभीर, विवेचनापूर्ण, एव परिष्कृत निबध-रचना मे सिद्धहस्त हैं । गभीर, गहन विचारो का वहन करते हुए भी उनके निबध भावात्मकता, सवेदनशीलता मे शून्य नही है । 'क्षणदा', 'शृखला की कड़ियाँ' आपके प्रसिद्ध निबध-सग्रह हैं । प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर, ने अपने निबधो द्वारा भी हिन्दी-जगत् को चमत्कृत कर दिया । उनके निबधो में उनका कवि-हृदय स्पष्ट परिलक्षित होता है । विवेचनात्मक निबधों मे भी भावनात्मक लालित्य है । 'मिट्टी की ओर', 'अर्धनारीश्वर', 'रेती के फूल', 'वेणुवन' आदि उनके प्रसिद्ध निबध-सग्रह है ।

अन्य निबधकारो में डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र, डा० रघुवश, डा० प्रभाकर माचवे, नलिन विलोचन शर्मा, डा० रामरतन भटनागर आदि प्रसिद्ध हैं ।

प्रगतिवादी तथा सतत जागरूक आलोचक के रूप मे डा० रामविलास शर्मा विख्यात हैं । 'राष्ट्रभाषा' के सम्बन्ध मे आपके तर्कों तथा विचारो ने देशव्यापी ख्याति पायी है । आपके स्फुट निबधो का सग्रह 'राष्ट्रभाषा की समस्या' के नाम से प्रकाशित हुआ है ।

'अज्ञेय' जी अपने गम्भीर विवेचनापूर्ण तथा लालित्यपूर्ण निबधो के लिए प्रसिद्ध हैं । आपके निबधो मे आत्मपरक शैली के दर्शन होते हैं । यात्रा सबधी निबध ललित हैं । आपकी साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना

करने वाले निबध विचार-प्रधान हैं। 'त्रिशकु' तथा 'आत्मनेपद' नामक दो निबध-सग्रह प्रकाशित हैं ।

डॉ० नगेन्द्र रसवादी आलोचक के रूप मे विख्यात हैं। ये निबध मनोवैज्ञानिक भूमि पर आधारित हैं । आपके आलोचक व्यक्तित्त्व का परिचय आपके निबधो के माध्यम से ही मिलता है। 'विचार और विवेचन', 'विचार और विश्लेषण', 'विचार और अनुभूति' आपके प्रसिद्ध निबध-सग्रह हैं।

डॉ० भगीरथ मिश्र के निबधो का क्षेत्र विस्तृत है । डॉ० रघुवश का नव-चिन्तन से युक्त विवेचनात्मक निबधो का सग्रह 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' के नाम मे प्रकाशित हो चुका है। सूचना प्रधान, शिष्ट व्यग्य से युक्त खोजी निबध लिखने वालो मे डॉ० प्रभाकर माचवे का विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार के निबधो के दो सग्रह 'सन्तुलन' तथा 'खरगोश के सीग' प्रकाशित हो चुके हैं। श्री नलिन विलोचन शर्मा अपनी गहरी साहित्यिक सूझ-बूझ तथा गहन अध्येता के रूप मे प्रसिद्ध थे। हिन्दी की उच्चस्तरीय पत्रिकाओ मे समय-समय पर आपके निबध प्रकाशित होते रहे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक हिन्दी-साहित्य की इस विधा का उत्तरोत्तर विकास ही होता जा रहा है। प्रमाण के लिए आज के युग की उन नवीन प्रतिभाओ को लिया जा सकता है जो निरन्तर प्रभावशील हैं । इन नवीन प्रतिभाओ मे डॉ० विद्यानिवास मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिह, नामवर सिह, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० शिवप्रसाद सिह, श्रीलाल शुक्ल, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', हरिशकर पारसाई, कुबेरनाथ राय, शरद जोशी आदि प्रमुख हैं ।

आलोचना

यद्यपि हिन्दी-साहित्य मे समालोचना का वर्त्तमान रूप आधुनिक-युग

की देन है परन्तु आलोचना की परम्परा बहुत पुरानी है। इसकी पूर्व-पीठिका संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रथो मे मिलती है।

हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल मे भी आलोचना का सैद्धान्तिक रूप देखने को मिलता है। यह रूप काव्य-सिद्धान्त-निरूपण, भाष्य, टीका, वार्तिक आदि के रूप मे विशुद्ध आचार्यत्व की प्रेरणा से लिखा गया था। केशव-कृत 'कवि-प्रिया' तथा 'रसिक-प्रिया' जैसे विशुद्ध शास्त्रीय ग्रथो के प्रणयन के बाद शास्त्रीय ग्रथो के अतिरिक्त नायक-नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन सम्बन्धी ग्रथो का भी सृजन हुआ।

परन्तु रीतिकाल मे प्रणीत इन सभी ग्रथो का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि इनमे परिपक्वता, सूक्ष्मता तथा गम्भीरता का अभाव है। वास्तविक समालोचना का विकास तो आधुनिक-युग की देन है और जिसका प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से ही हो गया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न कलाकार थे। हिन्दी-साहित्य के अन्य अगों की तरह उन्होने आलोचना के विकास मे भी पर्याप्त योग दिया। इनका 'नाटक' नामक ग्रथ नाट्यशास्त्र सम्बन्धी सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रथ है। इस युग मे हिन्दी साहित्य-चेतना पर पाश्चात्य प्रभाव पडने लगा था। फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य मे व्यापक परिवर्तन प्रारम्भ हुआ।

भारतेन्दु-युग मे द्विवेदी-युग के आते-आते हिन्दी के साहित्यकारो का दृष्टिकोण बहुत व्यापक तथा विशाल हो गया था। इस दृष्टिकोण का प्रभाव हिन्दी आलोचना पर भी पडा। हिन्दी-साहित्य का अन्य देशी तथा विदेशी भाषाओ के साहित्य से सम्पर्क बढ रहा था। नवीनता के प्रकाश मे हिन्दी के साहित्यकार अपने को सुधारने तथा एक निश्चित पथ का निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील थे। इस दिशा मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तथा समीक्षा का पथ प्रशस्त किया। इस युग की हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र मे कुछ नवीन प्रवृत्तियो का

१. शास्त्रीय आलोचना, २ व्यावहारिक आलोचना, ३ अनुसंधान-परक आलोचना, ४ पाठालोचन, ५ स्वच्छन्दतावादी आलोचना, ६ प्रगतिवादी आलोचना, ७ मनोवैज्ञानिक आलोचना और ८ ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक आलोचना।

१. शास्त्रीय आलोचना—रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों की परम्परा

का निर्वाह, आधुनिक युग के आलोचको ने भी किया है। इन आलोचको तथा ग्रन्थो मे प्रमुख हैं—राजा मुरारीदीन का 'जसवत भूषण' लाला भगवानदीन का 'अलकार-मजूषा', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम', अयोध्यासिह उपध्याय का 'रसकलश' इत्यादि।

इस शास्त्रीय आलोचना का दूसरा पक्ष है—नवीन दृष्टिकोण का प्रवेश। इस नवीन दृष्टिकोण के पोषक आलोचको मे महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय आदि प्रमुख हैं। इन सभी आलोचक विद्वानो मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की देन का अत्यधिक महत्व है। उनकी 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक ने मौलिक सिद्धान्तो की स्थापना की।

पाश्चात्य तथा भारतीय सिद्धान्तो के समन्वय के आधार पर सिद्धान्त ग्रथो का प्रणयन भी, शास्त्रीय आलोचना की एक अन्य विशेषता है। डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सीताराम चतुर्वेदी आदि ने इस आधार पर ग्रन्थो का निर्माण किया।

२ व्यावहारिक आलोचना—आलोचना की इस नवीन-पद्धति का प्रयोग भारतेन्दु-युग मे ही होने लगा था। आरम्भ मे इसका क्षेत्र 'पुस्तक परिचय' तक ही सीमित था। कालान्तर मे इस 'पुस्तक-परिचय' ने विकसित होकर 'पुस्तक समीक्षा' और पुन 'साहित्यिक समालोचना' का रूप ले लिया। भारतेन्दु-युग मे बदरीनारायण 'प्रेमघन', बालकृष्णभट्ट आदि के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न पुस्तको की आलोचनाएँ, पुस्तक-समीक्षा का ही विकसित रूप थी। आचार्य शुक्ल ने इस व्यावहारिक आलोचना मे व्याख्यात्मक पद्धति का विकास किया। उदाहरण के लिए 'जायसी,' 'तुलसी', 'सूर' आदि पर उनकी आलोचनाएँ ली जा सकती हैं। इस पद्धति का विकास बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय जैसे आलोचको ने भी किया।

३ अनुसधानपरक आलोचना—इस आलोचना का वि

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से माना जाता है। इस पत्रिका में प्रकाशित बाबू राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, एडविन ग्रीव्स, बाबू श्यामसुन्दरदास के गवेषणात्मक निबंधो ने अनुसन्धान-परक आलोचना के विकास मे बहुत योग दिया। सम्मेलन पत्रिका, गवेषणा, हिन्दुस्तानी, तथा परिषद् पत्रिकाओ मे निरतर गवेषणायुक्त आलोचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं।

४. पाठालोचन—इसके अन्तर्गत प्राचीन साहित्यकारो के ग्रन्थो के सही पाठ की खोज आती है, जिससे उनके कृतित्व का उचित मूल्याकन हो सके। इस दिशा मे बाबू श्यामसुन्दरदास, प० रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० माताप्रसाद गुप्त, जवाहरलाल चतुर्वेदी आदि के प्रयत्न विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, भिखारीदास आदि के ग्रन्थो पर कार्य किया है।

५. स्वच्छन्दतावादी आलोचना—स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग मे ही अकुरित होने लगी थी, पर उनका पूर्ण विकास छायावादी-युग मे आकर हुआ। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियो पर पाश्चात्य कवियो का प्रभाव रग जमा रहा था। वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स के स्पष्ट प्रभाव को हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियो पर देखा जा सकता है। इस स्थिति मे हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी आलोचना पर पाश्चात्य रोमाटिक समीक्षा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस आलोचना को पल्लवित तथा पुष्पित करने का प्रमुख श्रेय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को है।

६ प्रगतिवादी आलोचना—इस आलोचना ने यथार्थ के सत्य स्वरूप को ग्रहण किया है। 'स्वप्न लोक' के 'कुजो' मे घूमती छायावादी 'कवि की कल्पना' प्रगतिवाद के युग मे यथार्थ की धरती का स्पर्श करती है। इसके साथ ही जन्म होता है प्रगतिवादी आलोचना का। इस आलोचना का मुख्य तत्व सामाजिक यथार्थ है। फलतः इस आलोचना पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव स्वाभाविक है।

इस प्रकार के आलोचको मे डा० रामविलास शर्मा, डा० रागेय राघव, डा० नामवर सिह, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रमुख हैं। छायावादी धुन्ध को दूर करके हिन्दी-साहित्य मे नवीन चेतना लाने के कारण प्रगतिवादी आलोचना का अपना महत्त्व है।

७. मनोवैज्ञानिक आलोचना—हिन्दी की इस आलोचना पर फ्रायड की अन्तश्चेतनावादी कला-सिद्धात का स्पष्ट प्रभाव है। फ्रायड के बाद एडलर तथा युग के प्रभाव को भी इस मनोवैज्ञानिक आलोचना ने ग्रहण किया है। मानव मन की चेतन, अर्द्धचेतन तथा अवचेतन स्थितियो का सूक्ष्म विवेचन तथा उद्घाटन इस मनोवैज्ञानिक आलोचना का आधार है।

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक आलोचको मे शीर्ष-स्थान इलाचन्द्र जोशी का है। अन्य आलोचको मे उल्लेखनीय हैं—डा० देवराज, अज्ञेय तथा कुछ सीमा तक डा० नगेन्द्र। कुछ सीमा तक इसलिए कि डा० नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक हैं, पर वे मनोविज्ञान को रसवाद का पूरक मानते हैं।

८. ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक आलोचना—इस प्रकार की आलोचना का मुख्य आधार इतिहास तथा सस्कृति का परिवेश है। इस प्रकार का आलोचक वर्त्तमान जटिल समस्याओ का समाधान इतिहास एव प्राचीन सस्कृति की सीमाओ मे खोजने का प्रयत्न करता है। इनमे प्रमुख हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, प० विश्वनाथ मिश्र आदि। हिन्दी के शोध-प्रबन्धो के क्षेत्र मे इस आलोचना के महत्त्व को स्वीकार किया जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-गद्य जिसका विकास भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ हुआ था, आज उत्कर्ष के चरम-शिखर पर पहुंच गया है। हिन्दी गद्य इन ऊंचाइयो का स्पर्श करके ही सतुष्ट नहीं हुआ है, वरन् अपनी अनेक विधाओ को भी जन्म दिया है, जिनका निरतर विकास होता जा रहा है। ●

पुरुषोत्तमदास टण्डन

(सन् १८८२–१९६२ ई०)

राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायक राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का जन्म संवत् १९३९ मे श्रावण के पुरुषोत्तम मास मे शुक्ल पक्ष द्वितीया, मंगलवार (११ अगस्त, सन् १८८२ ई०) और निधन १ जुलाई, १९६२ ई० को हुआ था। १९१० मे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान मे आयोजित प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे महामना मालवीय जी सभापति तथा टण्डन जी प्रधानमंत्री चुने गए थे। टण्डन जी ने अपनी अथक साधना द्वारा हिन्दी साहित्य सम्मेलन को हिन्दी का सर्वमान्य मंच बनाया था। आपके निदेशन मे ही सम्मेलन ने परीक्षाओ के माध्यम से हिन्दी का प्रचार किया। सन् १९२२ मे आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के सभापति चुने गए थे।

टण्डन जी हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट के शिष्यो मे थे। भट्ट जी द्वारा संपादित 'हिन्दी प्रदीप' मे सर्वप्रथम टण्डन जी ने लिखना प्रारम्भ किया था। १९०९ मे महामना मालवीय जी ने आपको 'अभ्युदय' का संपादन सौंपा था। थोडे समय तक आपने उक्त पत्र का संपादन भी किया था। 'अभ्युदय' मे टण्डन जी के अनेक विचारात्मक लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

टण्डन जी ने प्रारंभ मे बाल-साहित्य की भी गद्य-पद्य रचनाओ का प्रणयन किया था। इस प्रकार की रचनाओ का अभी तक कोई संकलन प्रकाशित नहीं हुआ है। आप की कुछ साहित्यिक रचनाएँ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा प्रकाशित 'टण्डन निबंधावली' मे संकलित हैं।

आप हिन्दी के उच्चकोटि के वक्ता थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विभिन्न अधिवेशनो मे आपने जो भाषण दिए हैं, उनकी साहित्यिक मूल्य-

बत्ता सभी स्वीकारते हैं। टण्डन जी के लोकसभा के भाषणो का संकलन 'शासन पथ निदर्शन' के नाम से विख्यात है।

आपकी सर्वप्रमुख हिन्दी सेवा है भारतीय संविधान मे सर्वसम्मति से हिन्दी को भारत संघ की राजभाषा का पद प्रदान कराना। १४ अगस्त सन् १९४९ मे भारत की संविधान-सभा मे टण्डन जी के प्रभावशाली नेतृत्व के कारण हिन्दी को राजभाषा का पद मिला था। हिन्दी के प्रश्न पर टण्डन जी कभी नहीं झुके और गाँधी जी ने जब हिन्दुस्तानी का समर्थन किया, टण्डन जी ने उनका भी विरोध किया था।

टण्डन जी ने राजनीति मे रहते हुए भी हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिए बहुत कुछ कार्य किया है। उनकी देश सेवाओ के कारण भारत सरकार ने उन्हें 'भारत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया था।

'धन और उसका उपयोग' उनका व्यावहारिक जीवन-दर्शन पर आधारित निबंध है।

धन और उसका उपयोग

⊙⊙

विचार यह उठता है कि धन है क्या वस्तु, किसी साधारण मनुष्य से पूछिए तो वह यही उत्तर देगा कि धन के अर्थ हैं—रुपया, पैसा, मोहर, सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि। फिर उससे पूछा जाय कि क्यो जी, इन्ही पदार्थों को धन क्यो कहते हैं। क्या तुम्हारे घर की और वस्तुएँ धन नही है? तो कदाचित् वह यह कहेगा—"हाँ, एक प्रकार से वे भी धन हैं, परन्तु विशेषकर धन इन्ही पदार्थों को कहते हैं, क्योंकि साधारण रीति से इनके ही द्वारा हम अन्य वस्तुओ को ले सकते हैं।" यद्यपि सम्पत्ति-शास्त्र के अनुसार युक्तिपूर्वक धम की परिभाषा वह मनुष्य न दे सके, तथापि वह यह जानता है कि धन उसी को कहते हैं, जिसको देकर उसके बदले कोई पदार्थ मिल सके। वास्तव मे धन व सम्पत्ति के अर्थ बहुत बडे हैं और इन शब्दो से उन समग्र पदार्थों का बोध होता है, जिनसे मनुष्य की इच्छाओ को पूरा करने का साधन प्राप्त होता है और जिनके बदले मे मनुष्य अन्य पदार्थों को दूसरे से पा सकता है, अर्थात् 'धन' से उन सब पदार्थों का बोध होता है, जिनके द्वारा मनुष्य औरो की शक्ति को व उनकी शक्ति के फल को अपने काम में ला सके। परन्तु साधारण बोलचाल मे 'धन' और 'धन' की माप के पदार्थ व सिक्को मे अन्तर नहीं किया जाता। मनुष्य धन की इच्छा केवल इस प्रयोजन से करता है कि वह ऐसा मन्त्र है, जिसको सिद्ध कर अपने पास रखने से मनुष्य औरो की शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपने वश मे कर सकता है और जिस प्रकार मन्त्र की सिद्धि, यदि उससे काम न लिया जाए, तो व्यर्थ है, उसी प्रकार धन का उपार्जन करना व्यर्थ है, यदि उसके द्वारा काम न लिया जाए। वास्तव मे सोना या चांदी मे स्वय मनुष्य

की इच्छाओ के पूरा करने की सामर्थ्य नहीं है, वे केवल अन्य पदार्थों के समान पचभौतिक पदार्थ हैं और उन पदार्थों मे से भी उस श्रेणी के नही है, जो मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक और लाभदायक है। किन्तु जिस प्रकार से मेसमेरिजम करने वाला (अर्थात् अपने चैतन्य से दूसरे के चैतन्य पर प्रभाव डालने वाला) एक अज्ञान बालक मे अपनी शक्ति के द्वारा वह शक्ति उत्पन्न कर देता है, जो स्वय उस मनुष्य मे नही है और ऐसी अद्भुत बातें कहला देता है, जो वह स्वय नही कह सकता। इसी प्रकार बहुत काल से मनुष्य-मात्र की एकत्रित शक्ति ने मिलकर इन धातुओ को वह शक्ति प्रदान कर दी है, जो वास्तव मे उन धातुओ मे नही है और मनुष्य उनसे वह काम करा लेता है, जो वह साधारण दशा मे स्वयं नही कर सकता। जिस प्रकार से मेसमेरिजम के लिए कोई बालक वा पुरुष औरो की अपेक्षा विशेष उपयुक्त होते है, उसी प्रकार' सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि पदार्थों मे विशेष कारणो से मनुष्य ने यह शक्ति दे दी है, कि वे जहाँ जाते हैं, उन्हें सब कोई चाहता है और उनके बदले मे सब प्रकार के पदार्थ मिल सकते हैं और व्यावहारिक काम हो सकते हैं, अर्थात् उन धातुओ मे कुछ गुण ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य को यह सुविधा होती है कि उन्हे अपने व्यवहार का द्वार बना ले।

हमारी प्राचीन पुस्तको से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष मे प्राचीन काल मे 'गो-वश' से वह काम लिया जाता था, जो आजकल सोना और चांदी कर रहे हैं। अर्थात् मनुष्य की सम्पत्ति की माप 'गो-वश' के सकेत से की जाती थी। अब भी भारतवर्ष के उन कोनो और कन्दराओ मे, जहाँ उस सभ्यता का असर नही है, जिसमे हम और आप रह रहे है और कुछ अश तक हमारे सब ही ग्रामो मे मनुष्य के धन की गणना उसके 'ढोर' (गाय, भैंस इत्यादि) से की जाती है, और अन्य पदार्थों का मूल्य गाय और भैंस की तुलना से किया जाता है। योरप के देशो मे भी उस समय के पश्चात् जब मनुष्य केवल आखेट से निर्वाह करता था, जब लोगो ने कृषि-कार्य सीखा, तब

वहाँ भी गाय, बैल, बकरी इत्यादि पशुगण ही 'धन' समझे जाते थे। यूनानी कवि होमर के काव्य से स्पष्ट जान पडता है कि उनके समय में अन्य पदार्थों का मूल्य 'गो-वश' की तुलना से किया जाता था। जैसे वीरों के शस्त्रों के मूल्य ९ बैल, २० बैल, १०० बैल—इस प्रकार के बतलाए गए हैं। एक दासी का मूल्य ४ बैल कहा गया है, इत्यादि। पारसियो के पवित्र ग्रन्थ 'जैन्द अवेस्ता' से भी इसी परिपाटी का प्रमाण मिलता है।

कही-कहीं जहाँ दासो का व्यापार होता है, और उनके साथ पशुओ का-सा व्यवहार किया जाता है, उनकी सख्या से अन्य पदार्थों के मूल्य की गणना की जाती है। इसी प्रकार वे पदार्थ भी, जिन्हें मनुष्य ने शोभा की वस्तु समझा है, सदा से धन का काम देते आए हैं। हमारे यहाँ 'कौडी' की गणना अब भी प्रचलित है। फीजी टापू के रहनेवालो मे ह्वेल के दाँतों से यही काम लिया जाता था। तेल, तमाखू, नमक, अन्न और इसी प्रकार के बहुत से पदार्थों ने भिन्न-भिन्न देशो मे और भिन्न-भिन्न समय में वही काम किया है, जो आजकल हम चाँदी, सोने से ले रहे ह। ऐसा भी सन्देह होता है कि कभी कही-कही लकडी के सिक्के चले हैं।

थोडा बहुत विचार प्रत्येक मनुष्य को इस बात का रहता है कि वह अपने धन से अधिक-से-अधिक लाभ किस प्रकार उठाए और जितना ही अधिक विचार इस विषय पर मनुष्य करता है, उतना ही अधिक वह अपने धन से सुख उठाता है। तो विचार इस समय यही है कि मनुष्य-मात्र किस प्रकार से अपने धन का उपयोग करे, जिससे अधिक-से-अधिक सुख होने की सम्भावना हो ? इस विचार मे भी दो शाखाएँ उपस्थित होती हैं—एक तो प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने अधिक-से-अधिक सुख की सम्भावना और दूसरे मनुष्य-जाति के अधिक-से-अधिक सुख की सम्भावना। दूसरा विचार बहुत सूक्ष्म है। एक मनुष्य के कर्मों का असर दूसरे पर किस प्रकार से पडता है, एक मनुष्य के थोडे सुख मे दूसरे मनुष्यों का कितना असीम सुख नाश होता है। एक मनुष्य के थोडे से सुख छोडने से ससार मे उस थोडे

सुख की अपेक्षा कितना गुना सुख उत्पन्न होता है। यह बहुत ही रोचक और विचार-योग्य विषय है, परन्तु इतना सूक्ष्म है कि इसको यहाँ पर नहीं उठायेंगे। यहाँ केवल इस बात की ओर हम ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही अधिक-से-अधिक सुख के लिए व उनके सुख के लिए जिनका सुख वह चाहता है, किस प्रकार धन का उपयोग करना उचित है।

सबसे पहली आवश्यकता मनुष्य को भोजन की है। आदि-काल से लेकर आज तक सबसे पहला उद्योग मनुष्य को इसी के लिए करना पडता है। क्या उस काल मे जब मनुष्य केवल आखेट के सहारे रहता था, क्या उस समय जब वह केवल खेती, फल और पशुओ के दूध के ऊपर निर्भर रहता था, क्या आजकल जब वह इन कामो के साथ ही सहस्रो प्रकार के काम करता है, सबसे पहला ध्यान उसका अपने शरीर के पालन की ओर रहता है। यह इच्छा छोटे बच्चे से बूढे तक मे प्रकृति की ही प्रविष्ट की हुई है और सृष्टि की स्थिति इसी के ऊपर निर्भर है। इसी से सबसे पहला सुख जो मनुष्य-मात्र अनुभव करता है, इसी आवश्यकता के पूरी करने मे होता है और इस कारण धन का पहला उपयोग प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी कार्य के निमित्त उचित है। परन्तु यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि धन की उपयोगिता उसी भोजन के लिए व्यय होने मे है, जिससे शरीर का पालन और उसकी पुष्टि हो, क्योकि शारीरिक सुख इसी मे है कि शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे। वह भोजन जो प्रायः केवल जिह्वा के स्वाद के लिए अथवा इन्द्रियो को प्रबल करने के लिए किया जाता है, वास्तव मे सुखदायी नहीं है, जिसमे क्षण-मात्र को सुख हो, परन्तु उससे यदि शरीर वा बुद्धि को हानि पहुँचो, तो प्रत्यक्ष है कि वह सुखदायी नही हो सकता। इससे भोजन के निमित्त धन को अधिक-से-अधिक उपयोगिता उसी मे है, जिससे शरीर का पालन हो, शारीरिक और मानसिक शक्ति वढे। इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक का भोजन उसके कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। आध्यात्मिक

शक्तियों को जगानेवाले योगियो का भोजन वही नहीं हो सकता, जो अपने देश की रक्षा करनेवाले और सग्राम मे लडनेवाले सिपाही का। परन्तु यह सिद्धान्त अवश्य प्रत्येक मनुष्य के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि उसके भोजन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता उस प्रकार के खाद्य पदार्थों में है, जो उसके उस कर्म में सहायक हो, जो उसका उद्देश्य है।

दूसरी आवश्यकता मनुष्य को व्यवहार के अनुसार कपडे पहनने की होती है। वस्त्र के सम्बन्ध मे इस बात का कोई नियम नही बांधा जा सकता कि किस मनुष्य को किस वस्तु मे धन लगाने से अधिक सुख मिलता है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी दशा के अनुसार वस्त्र पहनने पडते हैं, परन्तु धन, अधिक-से-अधिक सुख लेने के लिए कहां तक वस्त्रो मे लग सकता है, इसकी सीमा अवश्य होती है, और सीमा मेरे विचार मे यह है कि वस्त्रो से शरीर स्वस्थ रहे और उन्हे देखकर चित्त मे प्रसन्नता हो, उनके कारण चित्त मे कभी ग्लानि न उत्पन्न हो और उस मण्डली के लोग, जिसमे वह मनुष्य रहता है, पहिनने वाले के वस्त्र पर आक्षेप कर उसके चित्त को मलिन न करें। इसमे सन्देह नही कि इस सीमा के परे होकर भी मनुष्य धन के द्वारा सुख उठा सकता है। परन्तु वह धन का सबसे अच्छा उपयोग नही होगा, क्योकि वही धन उसी मनुष्य के और कामो में लगकर अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है।

तीसरी आवश्यकता मनुष्य की यह है कि कोई ऐसी कारीगरी, हुनर अथवा व्यवसाय सीखे और करे जिसमे भोजन और वस्त्र की आवश्यकताएं तथा अन्य स्वाभाविक इच्छाएं पूरी हो सकें, अर्थात् जिसके द्वारा आवश्यकतानुसार धनोपार्जन हो। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि उस व्यवस्था के सीखने और उसकी सामग्री इकट्ठा करने मे धन का लगना बहुत ही उपयोगी और सुख का बढानेवाला है।

पूर्वोक्त शारीरिक इच्छाओ मे और इन इच्छाओं को पूरा करने के लिए धन पैदा करने के यत्न मे धन लगाने के पीछे मानसिक इच्छाओं को

पूरा करने की आवश्यकता पडती है । मनुष्य और पशु मे यही समानता और अन्तर है कि कुछ दूर तक तो दोनो के कर्म एक ही हैं, अर्थात् सबसे पहले दोनों की शारीरिक इच्छाओं को पूरा करने की आवश्यकता रहती है । इन इच्छाओ को पूरा करने मे ही पशुओ की तृप्ति और उनका सुख है, परन्तु मनुष्य की अर्थात् साधारण मनुष्य की और उनकी नही, जिनमे और पशुओ मे केवल सूरत ही का भेद है, तृप्ति शारीरिक इच्छाओ को पूरा करके नही होती। मनुष्य प्रकृति की अद्भुत कारीगरी को देखता है और स्वभाव से उसके चित्त मे प्रश्न उठते हैं—"यह क्या है ? यह किस प्रकार होता है ?" ज्ञान की जिज्ञासा मनुष्य-मात्र का लक्षण है और इस जिज्ञासा के पूरी करने मे जो आनन्द होता है, वह शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थायी होता है। इसलिए इस जिज्ञासा को पुस्तको अथवा गुरु-शिक्षा अथवा अपनी विचार-शक्ति द्वारा पूरा करना मनुष्य का चौथा कर्म है, और उसमे धन लगाना धन की चौथी उपयोगिता है ।

शरीर को अच्छा स्वस्थ रखने के लिए भोजन और कपडे के अतिरिक्त उसके प्रत्येक अगो को काम मे लाने के लिए व्यायाम की आवश्यकता पडती है। और इस कारण से कि शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है और जब तक उसका शरीर के ऊपर भी अच्छा प्रभाव नही पडता, ऐसे शारीरिक आमोद-प्रमोद मे धन लगाना पडता है, जिनसे शरीर को लाभ हो और मन को भी प्रसन्नता हो। जिस प्रकार से केवल भोजन और कपड़े से शारीरिक आवश्यकता समाप्त नही होती वरञ्च और आनन्द देनेवाले खेलो की खोज होती है, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त भी मानसिक खेलो की आवश्यकता पडती है अर्थात् जिनमे कुछ बुद्धि का काम हो, परन्तु बुद्धि को अधिक कष्ट करने की आवश्यकता न पडे । कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनो ही स्वास्थ्यो के लिये एक ही कर्म उपयोगी होता है। जैसे, पहाड पर अथवा नदी किनारे पर्यटन करना, इसमे शरीर को लाभ होता है, परन्तु इसके साथ ही मन में भी अनेक कल्पनाएँ उठती हैं और उनमे मग्न

होकर मन को आनन्द मिलता है और कठिन मानसिक परिश्रम से जो मानसिक थकावट होती है, वह दूर होती है। परन्तु बहुत-सी ऐसी मानसिक आनन्द की वस्तुएँ होती हैं, जिनका विशेष सम्बन्ध मन और बुद्धि मे है, जैसे संगीत, कविता, चित्रकारी इत्यादि। इन मानसिक स्वास्थ्य के पदार्थों मे जो सुख मिलता है, वह शारीरिक स्वास्थ्य के द्वारा जो सुख मिलता है उससे कहीं अधिक बढकर और स्थायी होता है, उसी प्रकार जैसे मानसिक भोजन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने मे (जिसको हमने चौथी आवश्यकता बतलाया है) जो आनन्द मिलता है, वह उस आनन्द से बढकर और स्थायी होता है, जो शरीर की रक्षा के निमित्त भोजन करने मे होता है। साराश यह कि शारीरिक और मानसिक आमोद-प्रमोद मनुष्य की पाँचवी आवश्यकता है और इसमें धन लगाना उपयोगी है।

उपर्युक्त धन के उपयोगो मे सब ऐसे हैं, जिनमे धन नष्ट (बुरे अर्थ मे नहीं, किन्तु केवल काम मे आकर न रह जाने के अर्थ मे) होता है और जैसा हम कह आए हैं, धन इसीलिए है और उसका सुख इसी मे है कि उसे 'नष्ट' यानी खर्च या व्यय किया जाए, परन्तु धन खर्च होने के लिए धन की स्थिति चाहिए—अर्थात् धन का-उपार्जन चाहिए। इसी कारण धन के उपार्जन मे धन लगाने को हमने धन का तीसरा उपयोग बतलाया है। यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य और अपनी स्थिति रख सकता, तो पूर्वोक्त तीसरी उपयोगिता में एक बार धन लगाकर कदाचित यह निश्चित हो जाता और आवश्यकता के अनुसार धन पैदा कर अपने काम किया करता, परन्तु वास्तव मे मनुष्य के स्वास्थ्य अथवा उसकी आयु के सम्बन्ध मे स्थिरता नहीं है। आज मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा है और वह शक्तिवान् है तो धन उपार्जन के लिए परिश्रम कर सकता है। कल रोगग्रस्त है बुढ़ापा आ गया, कठिन परिश्रम की शक्ति नही रह गई, परन्तु आवश्यकताएँ वैसी ही है। अपने लिए और कुटुम्ब के लिए धन अवश्य चाहिए। इस कारण जिस समय मनुष्य परिश्रम कर धनोपार्जन कर सकता है, उनके

धन का छठा उपयोग धन का इकट्ठा करना है। ऊपर कहे हुए पाँचो उपयोगो का सम्बन्ध न केवल अपने से ही है, वरन् उनसे भी है, जिनके सुख से मनुष्य सुखी होता है और जिनका पालन वह अपना धर्म समझता है ।

धन का ऐसा उपयोग कि जिसमे उसकी आवश्यकता पड़ने पर और उपार्जन के अभाव मे, दु ख न हो, सुख का बढाने वाला है और कुछ अश तक आवश्यक भी है, परन्तु जिस प्रकार से अन्य आवश्यकताओ में धन की उपयोगिता को प्रत्येक पुरुष के लिए अवस्था-भेदानानुसार सीमा है, उसी प्रकार धन इकट्ठा करने मे अथवा इस नीयत से उसको कहीं लगाने मे, जिसमे आवश्यकता के समय मिल जाए, धन की उपयोगिता की सीमा है ।

अब देखना है कि किस सीमा तक धन इकट्ठा कर मनुष्य किस प्रकार से अपनी आवश्यकताओ से बचनेवाले धन को लगावे, जिसमे उसको सबसे अधिक सुख हो ? जब कोई मनुष्य धन इकट्ठा करने की इस अवस्था तक पहुँच जाता है, तब प्राय: यह देखा जाएगा कि वह आगे अपने पास बचने वाले धन के कुछ अश को उपर्युक्त आवश्यकताओं मे से ऐसे कार्यों मे लगावेगा जो बिना हानिकारक हुए और सुख पहुँचाते हुए बढाए जा सकते है, जैसे विद्या के उपार्जन मे, परन्तु बचनेवाले धन का बहुत थोडा अंश प्राय: इस प्रकार वह लगा सकेगा। शेष की उपयोगिता इसी मे होगी कि वह अन्य मनुष्य की आवश्यकताओ को पूरी करने मे लगाया जाए। इस प्रकार धन लगाने मे एक ऐसा अकथनीय आनन्द होता है, जिसका स्वाद साधारण रीति से प्राय. सब ही मनुष्य जानते हैं, किन्तु अच्छे प्रकार से सहृदय पुरुष ही उसका सुख उठा सकते हैं। वास्तव मे मनुष्य की सातवीं आवश्यकता यह है कि वह अन्य लोगो के सुख के लिए यत्न करे और धन की भी बहुत बडी उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी मे है कि वह एक सीमा के परे, दूसरो के लाभ

और सुख के लिए अपना धन लगावे और इस प्रकार से स्वय धन के द्वारा सुख प्राप्त करे ।

यहाँ पर मैंने जो कुछ लिखा है, वह केवल स्वार्थ अर्थात् अपने सुख के भाव से है—धर्म और पुण्य के विचार से उसका सम्बन्ध नहीं। और न महान् पुरुषो की शैली की मैंने व्याख्या की है, क्योकि ऐसे पुरुषों के हृदयो मे 'अपने' सुख का विचार नही होता। वहाँ धन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता देश व ससार के सुख के भाव से देखा जाता है। महान् पुरुषो के हृदय दूसरो के दु ख को देख ही नहीं सकते। यदि उनके पास दूसरो के दु ख को दूर करने की कोई शक्ति है तो वे 'अपना' आगा-पीछा नही देखते, वे 'अपनी' आवश्यकताओ का ब्योरा नही फैलाते। उनको आनन्द इसी मे आता है कि वे दूसरो की सहायता कर सकें और औरो को सुखी देखने ही मे उनका सुख है। साधारण लोग भी थोड़ा-बहुत इस सुख का कभी-कभी अनुभव करते हैं

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(सन् १८८४---१९४० ई०)

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग हिन्दी गद्य-साहित्य के परिष्कार का युग था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के युग तक आते-आते उसका पर्याप्त परिमार्जन हो चुका था। अब आवश्यकता थी एक ऐसे व्यक्तित्व की जो हिन्दी-गद्य-साहित्य को शैली और विचार की प्रौढता प्रदान कर सके और हिन्दी-समीक्षा के लिए प्रभावशाली पद्धति तथा सशक्त मानदण्ड प्रदान कर सके। ऐसा ही व्यक्तित्त्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रूप मे हिन्दी साहित्य को उपलब्ध हुआ।

आचार्य शुक्ल एक उत्कृष्ट तथा सशक्त आलोचक थे। उनमे आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ही रूप देखने को मिलते हैं। आपकी सैद्धान्तिक समीक्षा का रूप आपके ग्रन्थ 'रसमीमासा' मे दृष्टि-गोचर होता है। व्यावहारिक आलोचना का प्रौढतम रूप तुलसी तथा जायसी ग्रन्थावली की भूमिकाओ, 'भ्रमर-गीतसार' की भूमिका तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे प्रकट हुआ है। आचार्य शुक्ल ने भारतीय 'रसवाद' को अपनी समीक्षा का आधार बनाया है। इन्होंने 'रसवाद' को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया, बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से उसे अधिक विश्वसनीय बनाया। उनकी आलोचना-पद्धति विवेचनात्मक है तथा दृष्टिकोण मर्यादावादी।

शुक्ल जी एक अप्रतिभ निबन्धकार भी थे। उनके निबन्धो ने हिन्दी निबन्ध-साहित्य को प्रौढता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। उनके निबन्धो की दो श्रेणियां हैं---१. मनोवैज्ञानिक निबन्ध तथा २. समीक्षात्मक निबन्ध। समीक्षात्मक निबन्ध पुनः दो प्रकार के हैं---सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्धित निबन्ध तथा व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्धित निबन्ध। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध मनोविकारों पर लिखे गए हैं। विषय के अनुरूप

अपनी शैली में गम्भीरता, गुरुता, व्यावहारिकता और व्यंग-विनोद से सरसता उत्पन्न करने की शुक्ल जी में अद्‌भुत क्षमता थी। उनके निबन्धों में विचारों की वह गूढ़ गुम्फित परम्परा मिलती है जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नई विचार-पद्धति के मार्ग पर स्वयं अग्रसर होती है। 'चिन्तामणि' उनके उत्कृष्ट निबन्धों का संग्रह है।

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में बौद्धिक चिन्तन की गहनता है। उन्होंने स्वत स्वीकार किया है कि उनके निबन्ध बुद्धि-यात्रा के परिणाम हैं। परन्तु बौद्धिकता से युक्त ये निबन्ध उनकी सहृदयता से भी सरस हुए हैं।

शुक्ल जी के गद्य-शैली के मुख्यत. तीन रूप हैं—भावात्मक, समीक्षात्मक और गवेषणात्मक। उनकी भाषा उनके गभीर व्यक्तित्त्व एवं शैली के अनुरूप है। भाषा का प्रमुख रूप संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिन्दी है किन्तु अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग में भी वे उदार हैं। वे पारिभाषिक शब्दों के जनक भी हैं।

शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के प्रौढ़तम विचारात्मक निबन्ध-लेखक हैं और प्रौढ़ गद्य-शैली के प्रवर्तक भी। हिन्दी निबन्ध-साहित्य में इनका स्थान अन्यतम है और आलोचना के तो वे सर्वमान्य सम्राट् हैं।

क्रोध

⊙⊙

क्रोध दु ख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दु ख और उसके कारण के सम्वन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे, तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीडा और उस हाथ उठाने से क्या सम्वन्ध है, वह नही जानता है। अत. वह केवल रोकर अपना दु.ख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के सज्ञान कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का उदय नही होता। दु ख के सज्ञान कारण पर प्रवल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने वाला मनोविकार होने के कारण क्रोध का आविर्भाव वहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से परिचित हो जाने पर ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसे देखते ही अपने रोने मे कुछ क्रोध का आभास देने लगता है।

सामाजिक जीवन मे क्रोध की जरूरत बराबर पडती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरे के द्वारा पहुँचाए जानेवाले वहुत से कष्टों का चिर-निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो-चार प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नही हुआ है तो वह केवल आह-ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नही। उस दुष्ट के हृदय मे विवेक, दया आदि उत्पन्न करने मे बहुत समय लगेगा। संसार किसी को इतना समय ऐसे छोटे-छोटे कामो के लिए नही दे सकता। भयभीत होकर भी प्राणी अपनी रक्षा कभी-कभी कर लेता है, पर समाज मे इस प्रकार प्राप्त दुःख-निवृत्ति चिर-स्थायिनी नही होती। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि क्रोध के समय क्रोध करनेवाले के मन मे सदा भावी कष्ट से

बचन का उद्देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चेतन-सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसीलिए है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दुहराए जाने की सम्भावना कुछ भी नहीं है, उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है, उसमे रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती। अधिकतर क्रोध इसी रूप मे देखा जाता है। एक-दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जा रहे हैं। इनमे से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते बात ही बात मे एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते-उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जायेगा, क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ सम्भावना होगी, वहाँ शुद्ध प्रतिकार न होगा, उसमे स्वरक्षा की भावना भी मिली होगी।

हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमे दो-चार टेढ़ी-सीधी सुना जाता है। यदि हम एक दिन उसे पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार न कहलाएगा, क्योंकि हमारी दृष्टि नित्य गालियाँ सहने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी समझी जायेगी। इन दोनों दृष्टान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रकृति दोनों मे है, पर एक मे यह परिणाम आदि का विचार बिल्कुल छोड़े हुए है और दूसरे मे कुछ लिए हुए। इनमे से पहले दृष्टान्त का क्रोध उपयोगी नहीं दिखाई पड़ता। पर क्रोध करनेवाले के पक्ष मे उसका उपयोग चाहे न हो, पर लोक के भीतर वह बिल्कुल खाली नहीं जाता। दुःख पहुँचाने वाले से हमें फिर दुःख पहुँचने का डर न सही, पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दण्ड दे देने से पहिले तो उसी की शिक्षा या भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगों के बचाव का बीज भी बो दिया जाता है। यहाँ पर भी वही बात है कि क्रोध के समय लोगों के

मन मे लोक-कल्याण की यह व्यापक भावना सदा नहीं रहा करती। अधिकतर तो ऐसा क्रोध प्रतिकार के रूप मे ही होता है।

यह कहा जा चुका है कि क्रोध दु'ख के चेतन कारण के साक्षात्कार या परिज्ञान से होता है। अतः एक तो यहाँ कार्य-कारण के सम्बन्ध ज्ञान मे त्रुटि या भूल होती है, वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध करने वाला जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है, अपनी ओर नही। जिसने दु ख पहुँचाया है उसका नाश हो या उसे दु ख पहुँचे, क्रुद्ध का यही लक्ष्य होता है। न तो वह यह देखता है कि मैंने भी कुछ किया है या नही और न इस बात का ध्यान रहता है कि क्रोध के वेग मे मैं जो कुछ करूँगा उसका परिणाम क्या होगा ? यही क्रोध का अन्धापन है। इसी से एक तो मनोविकार ही एक-दूसरे को परिमित किया करते है, ऊपर से बुद्धि या विवेक भी उन पर अकुश रखता है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि मन मे दु खदाता की शक्ति के रूप और परिणाम के निश्चय, दया, भय आदि और भावो के सचार तथा उचित-अनुचित के विचार के लिए जगह ही न रही तो बडा अनर्थ खडा हो जाता है। जैसे, यदि कोई सुने कि उसका शत्रु बीस-पच्चीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार और अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध किए उसे मारने के लिए अकेले दौड पडे, तो उसके मारे जाने मे बहुत कम सदेह समझा जाएगा। अत. कारण के यथार्थ निश्चय के उपरान्त, उसका उद्देश्य अच्छी तरह समझ लेने पर ही आवश्यक मात्रा और उपयुक्त स्थिति मे ही क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिए उसका विकास होता है।

क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य हानि या पीडा पहुँचाने के पहले आलम्बन मे भय का सचार करना रहता है। जिस पर क्रोध प्रकट किया जाता है वह यदि डर जाता है और नम्र होकर पश्चात्ताप करता है तो क्षमा का अवसर सामने आता है। क्रोध का गर्जन तर्जन क्रोध-पात्र के लिए भावी दुष्ट-परिणाम की सूचना है, जिसमे कभी-कभी उद्देश्य की पूर्त्ति हो

जाती है और दुष्ट-परिणाम की नौबत नहीं आती। एक ही उग्र आकृति देख दूसरा किसी अनिष्ट व्यापार से विरत हो जाता है या नम्र होकर पूर्वकृत दुर्व्यवहार के लिए क्षमा चाहता है। बहुत से स्थलों पर क्रोध का लक्ष्य किसी का गर्व चूर्ण करना मात्र रहता है अर्थात् दु ख का विषय केवल दूसरों का गर्व या अहंकार होता है। अभिमान दूसरों के मान में या उसकी भावना में बाधा डालता है, इससे वह बहुत से लोगों को यों ही खटका करता है। लोग जिस तरह से हो सके—अपमान द्वारा, हानि द्वारा—अभिमानी को नम्र करना चाहते हैं। अभिमान पर जो रोष होता है उसकी प्रवृत्ति अभिमानी को केवल नम्र करने की रहती है, उसको हानि या पीड़ा पहुँचाने का उद्देश्य नहीं होता। संसार में बहुत से अभिमान का उपचार अपमान द्वारा ही हो जाता है।

कभी-कभी लोग अपने कुटुम्बियों या स्नेहियों से झगड़कर क्रोध में अपना ही सिर पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दु ख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता, क्योंकि बिल्कुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में अपना ही सिर पटकने या अंग-भंग करते देखें तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवाह है अर्थात् जिसे उसका सिर फूटने से उस समय नहीं तो आगे चलकर दु ख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी कभी मनुष्य यह भी विचार नहीं करता कि जिसने दु ख पहुँचाया है, उसमें दु ख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं, इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है। और कभी ठोकर खाकर कंकड़-पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में कुश उसके पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुदारी लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़-उखाड़ कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गए। जब आग न जली तब उस पर

क्रोध करके चूल्हे मे पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है। यात्रियो ने बहुत से ऐसे जंगलियो का हाल लिखा है जो रास्ते मे पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर-चूर किए आगे नहीं बढ़ते। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोविकार बहुत प्रबल पड़ जाता है, तो वह अन्त.प्रकृति मे अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को बचपन से मिलती-जुलती अवस्था मे ले जाकर पटक देता है।

क्रोध सब मनोविकारो से फुरतीला है, इसी से अवसर पड़ने पर यह और मनोविकारो का भी साथ देकर अपनी तुष्टि का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय मे उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थ-कष्ट मे होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शान्त कर लेते। पर यहाँ तो उस अबला के दु ख का कारण मूर्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नो को ज्ञानपूर्वक रोकने की शक्ति रखने वाला है। ऐसी अवस्था मे क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नही बांटता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया ही का होता है। लोग यही कहते हैं कि "उसने दया करके बचा लिया" यह कोई नही कहता कि "क्रोध करके बचा लिया।" ऐसे अवसरो पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती।

क्रोध शाति भंग करने वाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे मे भी क्रोध का संचार करता है। जिसके प्रति क्रोध-प्रदर्शन होता है वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दु ख पर उसकी भी त्योरी चढ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर

जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, वह उचित है या अनुचित। इसी से धर्म नीति और शिष्टाचार तीनों में क्रोध के निरोध का उपदेश पाया जाता है। संत लोग तो खलों के वचन सहते ही हैं, दुनियादार लोग भी न जाने कितनी ऊँची-नीची पचाते रहते हैं। सभ्यता के व्यवहार में भी क्रोध नहीं तो क्रोध के चिह्न दबाये जाते हैं। इस प्रकार के प्रतिबन्ध की भी सीमा है। यह परपीड़कोन्मुख क्रोध तक नहीं पहुँचता।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बताने वाला चाहे कटे पटे भी शिक्षा दे भी दे, पर पक्ष के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे से भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिसने कुछ स्वार्थ निकालना रहता है जिसे बातों में फँसाकर ठगना रहता है, उसकी कठोर से कठोर अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग जरा भी क्रोध नहीं करते, पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधन।

क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं—अपना दुःख और पराया दुःख। जिस क्रोध के त्याग का उपदेश दिया जाता है वह पहले प्रकार के दुःख से उत्पन्न क्रोध है। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध बुराई की हद के बाहर समझा जाता है। क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा, उतना ही क्रोध में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। अपने दुःख से आगे बढ़ने पर भी कुछ दूर तक क्रोध का कारण थोड़ा बहुत अपना ही दुःख कहा जा सकता है—जैसे अपने आत्मीय या परिजन का दुःख, देशवासी का दुःख। इसके आगे भी जहाँ तक दुःख की भावना के साथ कुछ ऐसी विशेषता लगी रहेगी कि जिसे कष्ट पहुँचाया जा रहा है वह हमारे ग्राम, पुर या देश का रहने वाला है वहाँ तक हमारे क्रोध के सौन्दर्य की पूर्णता में कुछ कसर रहेगी। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष होगी वहाँ

सच्चा पर-दु:ख-कातरता मानी जायगी, वही क्रोध के स्वरूप को पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त होगा—ऐसा सौन्दर्य जो काव्य क्षेत्र के बीच भी जगमगाता आया है।

यह क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप मे हमारे सामने आता है। स्वामी से सेवक कुछ कठिन होते ही हैं; उनमे कुछ अधिक कठोरता रहती है। पर यह कठोरता ऐसी कठोरता को भग करने के लिए होती है जो पिघलने वाली नही होती। क्रौंच के वध पर वाल्मीकि मुनि के करुण क्रोध का सौन्दर्य एक महाकाव्य का सौन्दर्य हुआ। उक्त सौन्दर्य का कारण है निर्विशेषता। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर प्राणिमात्र के दु ख का क्षोभ समाया हुआ है। क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है, वही से क्रोध के सौन्दर्य का आरम्भ होता है। शिशुपाल की बहुत-सी बुराइयो तक जब श्रीकृष्ण की क्षमा पहुँच चुकी तब जाकर उसका लौकिक लावण्य फीका पडने लगा और क्रोध की समीचीनता का सूत्रपात हुआ। अपने ही दु:ख पर उत्पन्न क्रोध तो प्राय. समीचीनता तक ही रह जाता है, सौन्दर्य-दशा तक नही पहुँचता। दूसरे से दु:ख पर उत्पन्न क्रोध मे या तो हमे तत्काल क्षमा का अवसर या अधिकार ही नही रहता अथवा वह अपना प्रभाव खो चुकी रहती है।

बहुत दूर तक और बहुत काल से पीडा पहुँचाते चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे क्षमा न दिखाई देगी—नैराश्य, कायरता और शिथिलता की छाया दिखाई पडेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा, उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पडेगी, उसके सौन्दर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि-सदृश क्रोध ऐसा ही है वह सात्विक तेज है, तामस ताप नही।

दण्ड कोप का ही एक विधान है। राजदण्ड राजकोप है, जहाँ कोप लोक-कोप और लोककोप धर्मकोप है। जहाँ राजकोप धर्मकोप से एकदम भिन्न दिखाई पडे, वहाँ उसे राजकोप न समझकर कुछ विशेष मनुष्यो का कोप समझना चाहिए। ऐसा कोप राजकोप के महत्त्व और पवित्रता का

सम्भावना बहुत अधिक रहती है। किसी मत, सम्प्रदाय या सस्था के भीतर निरूपित आदर्शों पर ही अनन्य दृष्टि रखने वाले बाहर की दुनिया देख-देख कर अपने जीवन-भर चिडचिडाते चले जाते हैं। जिधर निकलते हैं, रास्ते भर मुंह बिगडा रहता है। चिडचिडाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है, इसी से रोगियो और बुड्ढो मे अधिक पाई जाती है। इसका स्वरूप उग्र और भयकर न होने से यह बहुतो के—विशेषतः बालको के—विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है। बालको को चिड़चिडे बुड्ढो को चिढाने मे बहुत आनन्द आता है और कुछ विनोदी बुड्ढे भी चिढने की नकल किया करते हैं। कोई 'राधाकृष्ण' कहने से, कोई 'सीताराम' पुकारने से और कोई 'करेले' का नाम लेने से चिढता है और अपने पीछे लडको की एक खासी भीड लगाए फिरता है। जिस प्रकार लोगों को हँसाने के लिए कुछ लोग मूर्ख या बेवकूफ बनते हैं, उसी प्रकार चिडचिडे भी। मूर्खता मूर्ख को चाहे रुलाए, पर दुनिया को तो हँसाती ही है। मूर्ख हास्यरस के बडे प्राचीन आलम्बन है। न जाने कब से वे इस ससार की रुखाई के बीच हास का विकास कराते चले आ रहे हैं। आज भी दुनिया को हँसने का हौसला बहुत कुछ उन्ही की बरकत से हुआ करता है।

किसी बात का बुरा लगना, उसकी असह्यता का क्षोभयुक्त और आवेगपूर्ण अनुभव होना, अमर्ष कहलाता है। पूर्ण क्रोध की अवस्था मे मनुष्य दुःख पहुँचाने वाले पात्र की ओर ही उन्मुख रहता है—उसी को भयभीत या पीड़ित करने की चेष्टा मे प्रवृत्त रहता है। अमर्ष मे दुःख पहुँचाने वाली बात व्योरो पर और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है। इसकी ठीक व्यजना ऐसे वाक्यो मे समझनी चाहिए—"तुमने मेरे साथ यह किया, वह किया। अब तक तो मैं सहता आया, अब नही सह सकता।" इसके आगे बढकर जब कोई दाँत पीसता और गरजता हुआ यह कहने लगे कि "मैं तुम्हे धूल मे मिला दूंगा, तुम्हारा घर खोद कर फेंक दूंगा।" तब क्रोध का पूर्ण स्वरूप समझना चाहिए।

●

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(सन् १९०७ ई०–१९७९ ई०)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के अग्रणी निबन्धकार हैं। संस्कृत, ज्योतिष तथा हिन्दी का अध्ययन करने के बाद आप गुरुदेव रवीन्द्र के निमन्त्रण पर 'शान्ति-निकेतन' में अध्यापन-कार्य करने लगे। यहाँ आकर आपने अंग्रेजी और बंगला का अध्ययन किया। सन् १९४० से १९५० ई० तक आप वहाँ हिन्दी-भवन के निर्देशक के पद पर रहे। इसके पश्चात् सन् १९५१ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दी-विभागाध्यक्ष और आचार्य होकर आए। सन् १९४९ ई० में आपको लखनऊ विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया। सन् १९४७ में आपको भारत सरकार ने 'पद्मश्री' की उपाधि से विभूषित किया। १९६० से पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष व आचार्य के पद पर नियुक्त हुए। बाद में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए। कुछ समय रेक्टर तथा व्याकरण संस्थान के निदेशक रहे। कुछ समय आप हिन्दी ग्रन्थ अकादमी उत्तर प्रदेश के उपाध्यक्ष थे और बाद में आप उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के उपाध्यक्ष के पद पर कार्य किया था।

द्विवेदी जी की भाषा, भाव और अभिव्यक्ति में ऐसा अनूठा तारतम्य रहता है कि उसे पढ़ते ही पाठक का मन उसमें रम जाता है और पाठक सराबोर होकर उसे पढ़ता जाता है। आपकी भाषा संस्कृत प्रधान होती है किन्तु कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी आपकी कृतियों में मिलता है। आपकी रचनाओं में अनेक स्थानों पर भाषा क्षमता और चमत्कारिता सुसंगठित, परिष्कृत और विषयानुकूल है।

द्विवेदी जी की शैली आत्मपरक शैली है। उसमें एक उन्मुक्त गति और

स्वच्छन्दता है। आपकी शैली की विविधता का पता आपको रचनाओ से चलता है। 'वाणभट्ट की आत्म-कथा' हिन्दी मे अपनी शैली का एकमात्र उपन्यास है। संवेदना, तरंगित भावाकुलता, शब्द-लालित्य, प्रवाहमयता आपकी शैली की विशेषताएँ है।

आपकी रचनाओ मे सूर-साहित्य, हिन्दी-साहित्य की भूमिका, हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, हिन्दी-साहित्य, कबीर, वाण भट्ट की आत्म-कथा, अशोक के फूल, कल्पलता, चारुचन्द्र लेख, पुनर्नवा, नाथ-सम्प्रदाय आदि प्रमुख हैं।

अनुयायी होते थे । महात्मा जी के इस वक्तव्य में जो सदेश है, वह उन लोगो के लिए है जो अहिंसा और मैत्री के मार्ग से चलकर सम्पूर्ण मानव-समाज मे अहिंसा और मैत्री का धर्म प्रतिष्ठित कराना चाहते हैं। उनकी साधना व्यक्तिगत साधना हो सकती है, पर उनका लक्ष्य व्यक्तिगत नही होता; वह सम्पूर्ण समाज को कल्याण के प्रति सचेष्ट करना चाहता है। वस्तुत जब अहिंसा को साधना और साध्य दोनो कहा जाता है तो उसका यही अर्थ हो सकता है कि मन, वचन और कर्म की व्यक्तिगत अहिंसा और मैत्री-धर्म के द्वारा समूची मनुष्य-जाति को इस महान् सत्य के प्रति उन्मुख और इसे उपलब्ध करने के लिए प्रयत्नशील बनाना है। व्यक्तिगत अहिंसा और मैत्री का धर्म साधन है—और उसकी सामूहिक रुप में उपलब्धि साध्य ।

हार और जीत है क्या वस्तु ? जब हम इन शब्दों का व्यवहार करते हैं तो हमारे मन मे किसी न किसी प्रकार की एक लडाई की कल्पना होती है। हम किसी प्रतिपक्ष को दबाकर अपने मनोनुकूल लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं तो उसे जीत कहते हैं, और जब प्रतिपक्ष ही प्रबल हो जाता है और हमे अपने लक्ष्य तक पहुँचने नही देता, तब हम निराश होकर अपनी हार मान लेते हैं । साधारण मनुष्य अपने हर छोटे-छोटे प्रयत्नो मे एक न एक प्रकार का सघर्ष देखता है। उसके प्रयत्नो का सबसे अन्तिम किनारा जीत या हार है, शेष कर्म प्रवाह सघर्ष है या प्रतिपक्ष को दबा देने की लडाई है। इसीलिए वह अपने प्रयत्नो की सफलता के लिए चिन्तित होता रहता है। यदि वह चिन्तित न हो तो उसका सघर्ष निर्बल पड़ सकता है और अवसर मिलते ही प्रतिपक्ष उसको दबा सकता है; परन्तु सब सघर्षों मे यह बात नहीं होती। जहाँ साधना और साध्य मे भेद होता है वहाँ तो यह समस्या बड़ी जटिल हो उठती है। प्रेम यदि चित्त मे हो और प्रतिपक्ष को दबाना नहीं बल्कि उसे उठाना लक्ष्य हो, तो मनुष्य के मन मे हार की बात आ ही नहीं सकती। नितान्त छोटी-छोटी बातो मे भी इसकी परीक्षा की जा सकती

की सीमा से बाहर नही आ सकते थे। महात्मा जी ने किसी को अपना शत्रु नही समझा, उन्होंने सब को मित्र समझा। जो लोग भूल करते थे, उन्हें भी अपना मित्र ही समझते थे; उनकी भूलो को सुधारना वे अपना कर्त्तव्य मानते थे। उनके आलोचक कभी इस बात को नही समझ सके। परन्तु केवल उनके आलोचक ही नही, उनके अनुयायियो के मन मे भी कभी-कभी यह शका होती थी कि उनके प्रयत्नो की हार हो जाने की सभावना है। इन लोगो मे प्रेम-धर्म उतनी मात्रा मे नही होता था, जितने की आवश्यकता सत्याग्रही को होती है। उन्ही के लिए महात्मा जी का यह उपदेश था—सत्याग्रही कभी नही हारता।

जिसका साधन पवित्र होता है, जो मन से, वचन से और कर्म से पर-कल्याण की कामना करता है, वह हार नही सकता; क्योकि आरम्भ से अन्त तक उसके साधन मे और सिद्धि मे कोई भेद नही होता। ऐसा हो सकता है कि जिस भूल को वह सुधारना चाहता है उसको एक बहुत बडे समुदाय ने भूल न समझकर सत्य मान लिया हो और उस मान्यता के कारण वह भूल बहुत शक्तिशाली हो गई हो और सत्याग्रही अपने प्रयत्नों में सामयिक भाव से असफल हो जाय, पर इसे हार नहीं कह सकते। इस देश मे अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियो के साथ जो दुर्व्यवहार होता है, वह एक बडी भूल ही है, पर लोगो ने उसे 'धर्म' मान लिया है। 'धर्म' वह है नहीं, परन्तु मनुष्य के चित्त का सहारा पाकर वह विश्वास शक्तिशाली अवश्य हो गया है। सत्याग्रही उन जातियो को नष्ट नही करना चाहता, जो इस दुर्व्यवहार के लिए उत्तरदायी हैं, वह उन्हें बडे भारी पाप से उबारना चाहता है। उसका उद्देश्य भी पवित्र होता है और वह मार्ग भी पवित्र ही चुनता है। उसे सफलता या असफलता केवल लोक-प्रचलित अर्थ मे ही मिलती है। वस्तुतः उसको सिद्धि प्रतिक्षण मिलती रहती है। प्रेम से बढकर और कौन-सी सिद्धि है ? वह पग-पग पर उसी प्रेम की साधना करता रहता है। बहुत-से लोग समझते हैं कि दूसरो को सुधारने की इच्छा एक दम्भ-मात्र

डॉ० श्यामसुन्दरदास

(संवत् १९३२--२००२ वि०)

बाबू श्यामसुन्दरदास बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार थे। हिन्दी-साहित्य मे जिस समय बाबू श्यामसुन्दरदास का आविर्भाव हुआ, उस समय एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो विविध प्रकार की कृतियों का निर्माण कर सके। बाबू श्यामसुन्दरदास के व्यक्तित्व तथा कृतित्व ने इस आवश्यकता की पूर्ति कर दी।

बाबूजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह एक सफल सम्पादक, शोधक, अध्यापक तथा आलोचक थे।

सम्पादक के रूप में आपने नवीन मानदण्ड स्थापित किए। आपके सम्पादन के तीन रूप मिलते हैं—प्राचीन ग्रन्थो का सम्पादन, पत्रिका का सम्पादन तथा कोश का सम्पादन। आपके द्वारा सम्पादित कोश 'हिन्दी-शब्द-सागर', हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक स्मारक है।

बाबू जी एक जागरूक अन्वेषक भी थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रूप मे उन्होने शोध-कार्य को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। हिन्दी-साहित्य मे शोध-कार्य का सूत्रपात करने वाला, डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल का शोध-ग्रन्थ 'हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय' बाबू साहब की प्रेरणा तथा देख-रेख मे पूरा हुआ था। हिन्दी-भाषा तथा साहित्य मे, उनकी अन्वेषक-प्रवृत्ति ने, बहुमूल्य खोज की जिसका प्रमाण उनकी 'भाषा का इतिहास' तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रकाशित हुआ।

बाबू जी आलोचना-साहित्य के विदग्ध पंडित तथा इस शाखा के प्रवर्तक थे। उन्होने आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो पक्षो को समृद्ध किया। आलोचना-साहित्य के निर्माताओ मे आपका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

निबन्धकार के रूप में इनका विशेष महत्त्व है। उनके निबन्धों की संख्या लगभग पचास है। इन निबन्धों में प्रमुख रूप से वर्णनात्मक, विचारात्मक तथा भावात्मक शैलियों के दर्शन होते हैं। इनके अतिरिक्त समालोचना में आपने तुलनात्मक आलोचना शैली का भी प्रयोग किया है।

इस प्रकार बाबू श्यामसुन्दरदास एक परिश्रमशील व्यक्तित्व के स्वामी थे जो अपनी अनोखी प्रतिभा से हिंदी-भाषा तथा साहित्य के पचास वर्षों को अपने व्यक्तित्व में समेट लिया था और आने वाले युग के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया। गुप्त जी का यह कथन नितान्त सत्य है—

"मातृ भाषा के हुए जो विगत वर्ष पचास।
है उन्हीं का नाम बाबू श्यामसुन्दरदास॥"

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

⊙⊙

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बडी विशेषता उसके मूल मे स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर ससार के अन्य साहित्यो के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है।

जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भारत का ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि हैं तथा जिस प्रकार वर्ण एव आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश मे सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है; ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओ मे भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है।

साहित्य समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य मे प्रदर्शित सुख-दु.ख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावो के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द मे उसके विलीन होने से है।

साहित्य के किसी अग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखायी देगा। भारतीय नाटको मे ही सुख और दु ख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं, पर सबका अवसान आनन्द मे ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयो का ध्येय सदा से जीवन के आदर्श-स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति मे उसका इतना सम्बन्ध नही है जितना भविष्य की सभाव्य उन्नति से है।

हमारे यहाँ यूरोपीय ढग के दु खान्त नाटक इसीलिए नही देख पडते।

इस प्रकार साहित्य मे भी तथा कला मे भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल होती जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनो के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नही, दोनो एक ही हैं, दोनो सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनन्दस्वरूप हैं।

बन्धन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करने वाली वस्तु है। जीवात्मा सामान्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धात का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय मे कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

भारतीय साहित्य की दूसरी बडी विशेषता उसमे धार्मिक भावो की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बडी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रो मे उनको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है। अत. केवल आध्यात्मिक पक्ष मे ही नहीं, लौकिक आचार-विचारो तथा राजनीति तक मे उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान मे रखते हुए, अनेक सामान्यतया विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है।

वेदो के एकेश्वरवाद, उपनिषदो के ब्रह्मवाद तथा पुराणो के अवतार-वाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज मे हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृन तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपो मे पडा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य मे एक ओर तो पवित्र भावनाओ और जीवन सबधी गहन तथा गभीर विचारो

आलबन मानकर हमारे शृगारी कवियो ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारो को व्यक्त करने का जो ढग निकाला, वह समाज के लिये हितकर सिद्ध न हुआ ।

यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृगारी कविता मे उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नही कर सकते । सब प्रकार की शृगारी कविता ऐसी नही है कि उसमे शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओ का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श समय पाकर लौकिक शरीर-जन्य तथा वासना-मूलक प्रेम मे परिणत हो गया था ।

भारतीय साहित्य की इन दो विशेषताओ का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओ का वर्णन करेंगे ।

भारत की शस्य-श्यामा भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियो का चिरकाल से अनुराग रहा है, यो तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिए आकर्षण होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियो मे मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती है ।

अरब के कवि मरुस्थल मे बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड के लबे-लबे पेडो मे ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते तथा ऊँटों की चाल मे ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैल-माला पर सध्या की सुनहरी किरणो की सुषमा देखी है अथवा जिन्हे घनी अमराइयो की छाया मे कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओ की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियो की मतवाली चाल देख चुके है, उन्हे अरब की उपर्युक्त वस्तुओ मे सौन्दर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा ।

भारतीय कवियो को प्रकृति की सुन्दर गोद मे क्रीड़ा करने का सौभाग्य

मनोहर दृश्यो की सहायता से अपनी रहस्यमय उक्तियो को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जाति-गत तथा देश-गत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भाव-पक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष मे भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियो का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-सगठन अथवा छद-रचना तथा विविध आलकारिक प्रयोगो से ही नही है, प्रत्युत् उसमे भावो को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल मे कवि का व्यक्तित्व अतर्निहित रहता है और आवश्यकता पडने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शो तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परन्तु साधारणत हम यह देखते हैं कि कुछ कवियो मे प्रथम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष मे अपने भाव प्रकट करते हैं।

अग्रेजी मे इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं, परन्तु ये विभेद वास्तव मे कविता के नही है, उसकी शैली के है। दोनो प्रकार की कविताओ मे कवि के आदर्शो का अभिव्यजन होता है, केवल इस अभिव्यजन के ढंग में अन्तर रहता है। एक मे वे आदर्श, आत्म-कथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप मे व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे मे उन्हे व्यजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है।

भारतीय कवियो मे दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियो की रचनाओ के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीत-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदो के रूप मे लिखी जाती है।

साहित्य के कला-पक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओ से

महादेवी वर्मा

हिन्दी-साहित्य की अप्रतिम कवयित्री महादेवी वर्मा हिन्दी-गद्य-साहित्य की भी कुशल कलाकार हैं। हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों की, उनके द्वारा प्रस्तुत, व्याख्याओ ने न केवल उन प्रवृत्तियो को समझने का अवसर दिया है अपितु हिन्दी-साहित्य के वैचारिक स्तर को भी ऊँचा उठाया है। उनकी छायावाद, प्रगतिवाद तथा यथार्थ और आदर्श की व्याख्याएँ ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त कर चुकी हैं।

महादेवी जी एक उच्चकोटि की निबन्धकार हैं। उनके निबन्धो मे हिन्दी साहित्य तथा भारतीय समाज की समस्याओ का अध्ययन मौलिक रूप मे मिलता है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' और 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' नामक निबन्धो मे उनके काव्य तथा साहित्य सम्बन्धी विचारो की अभिव्यक्ति हुई है। उनके सामाजिक विचारो की अभिव्यक्ति 'शृंखला की कड़ियाँ' नामक निबन्ध मे हुई है। महादेवी जी की सामाजिक समस्याओ के केन्द्र मे नारी तथा उससे सम्बन्धित समस्याएँ हैं जिन पर महादेवी जी ने व्यापक चिन्तन किया है तथा उनके समाधान के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

हिन्दी-साहित्य मे महादेवी जी को श्रेष्ठ गद्यकार के रूप मे सुप्रतिष्ठित कराने मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है उनके रेखाचित्रो व संस्मरणो ने। 'अतीत के चल-चित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' मे समाज के उन निरीह, विवश प्राणियो का चित्रण है जो निरन्तर दुःख के थपेड़ो को झेल रहे हैं। महादेवी जी की सहानुभूति की सीमा मे वे निरीह प्राणी आ गए हैं, जिनमे मुखर मनुष्य भी हैं और मूक पशु भी। महादेवी जी की भावुक लेखनी का स्पर्श पाकर ये पात्र सजीव हो उठे हैं

दृष्टि से स्वतन्त्र हो चुकी है, अत सारे सामाजिक बन्धनो पर उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व कहा जा सकता है। उसे पुरुष के मनोविनोद की वस्तु बने रहने की आवश्यकता नही है, अतः वह चाहे तो परम्परागत रमणीत्व को तिलांजलि देकर सुखी हो सकती है, परन्तु उसकी स्थिति क्या प्रमाणित कर सकेगी कि वह आदिम नारी की दुर्बलता से रहित है। समवत' नही। शृगार के इतने सख्यातीत उपकरण, रूप को स्थिर रखने के इतने कृत्रिम साधन, आकर्षित करने के उपहास योग्य प्रयास आदि क्या इस विषय मे कोई सदेह का स्थान रहने देते हैं? नारी का रमणीत्व नष्ट नही हो सका, चाहे उसे गरिमा देने वाले गुणो का नाश हो गया। यदि पुरुष को उन्मत्त कर देने वाले रूप की इच्छा नही मिटी, उसे बाँध रखने वाले आकर्षण की खोज नही की गई, तो फिर नारीत्व की ही उपेक्षा क्यो की गई, यह कहना कठिन है। यदि भावुकता ही लज्जा का कारण थी, तो उसे समूल नष्ट कर देना था, परन्तु आधुनिक नारी ऐसा करने मे भी असमर्थ रही। जिस कार्य को वह बहुत सफलतापूर्वक कर सकी है, वह प्रकृति से विकृति की ओर जाना मात्र था। वह अपनी प्रकृति को, वस्त्रो के समान जीवन का बाह्य आच्छादन मात्र बनाना चाहती है, जिसे इच्छा और आवश्यकता के अनुसार जब चाहे पहना या उतारा जा सके। बाहर सघर्षमय जीवन मे जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रो मे कठिन से कठिन परिश्रम करेगी, जीवनयापन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु को अपने स्वेदकणो से तौलकर स्वीकार करेगी, उसी पुरुष मे, नारी के प्रति जिज्ञासा जाग्रत रखने के लिए वह अपने सौन्दर्य और अंग-सौष्ठव के रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आज उसे अपने रूप अपने शरीर और अपने आकर्षण का जितना ध्यान है, उसे देखते हुए कोई भी विचारशील, स्त्री को स्वतन्त्र न कह सकेगा।

स्त्री के प्रति पुरुष की एक रहस्यमयी जिज्ञासा सृष्टि के समान ही चिरन्तन है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता, परन्तु यह जिज्ञासा

इनके सबध का 'अथ' और 'इति' नही। प्राचीन नारी ने इस अर्थ से आरम करके पुरुष से अपने सबध को ऐसी स्थिति मे पहुँचा दिया, जहाँ उन दोनो के स्वार्थ एक और व्यक्तित्व सापेक्ष हो गए। यही नारी की विशेषता थी, जिसने उसे मनोविनोद के सुन्दर साधनो की श्रेणी से उठाकर गरिमामयी विधात्री के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आधुनिक नारी पुरुष के और अपने सबध को रहस्यमयी जिज्ञासा से आरम करके उसे वही स्थिर रखना चाहती है, जो समवत उसे किसी स्थायी आदान-प्रदान का अधिकार नही देता। सध्या के रगीन बादल या इन्द्रधनुप के रग हमें क्षणभर विस्मय-विमुग्ध कर सकते हैं; किन्तु इससे अधिक उनकी कोई सार्थकता हो सकती है, यह सोचना भी नही चाहिए। आज की सुन्दर नारी भी पुरुष के निकट और विशेष महत्त्व नही रखती। उसे स्वय भी इस कटु सत्य का अनुभव होता है, परन्तु वह उसे परिस्थिति का दोषमात्र समझती है। आज पुरुष के निकट स्त्री प्रसाधित शृगारित स्त्रीत्व मात्र लेकर खडी है, यह वह मानना नही चाहती, परन्तु वास्तव मे यही सत्य है। पहले नारी की जाति केवल रूप और वय का पाथेय लेकर ससार-यात्रा के लिए नही निकली थी। उसने ससार को वह दिया, जो पुरुष नही दे सकता था, अत उसके अक्षय वरदान का वह आज तक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को ससार अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा, जिससे विकृति भी उत्पन्न हो गई, परन्तु उसके प्रतिकार के जो उपाय हुए, वे उस विकृति को दूसरी ओर फेरने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके।

पश्चिम मे स्त्रियो ने बहुत कुछ प्राप्त कर लिया; परन्तु सब कुछ पाकर भी उनके भीतर की चिरन्तन नारी नही बदल सकी। पुरुष उनके नारीत्व की उपेक्षा करे, यह उसे भी स्वीकार न हुआ, अत वह अथक मनोयोग से अपने बाह्य आकर्षण को बढाने और स्थायी रखने का प्रयत्न

करने लगी। पश्चिम की स्त्री की स्थिति मे जो विशेषता है, उसके मूल मे पुरुष के प्रति उसकी स्पर्धा के साथ ही उसे आकर्षित करने की प्रवृत्ति भी कार्य करती है। पुरुष भी उसकी प्रवृत्ति से अपरिचित नही रहा, इसी से उसके व्यवहार मे मोह और अवज्ञा ही प्रधान है। स्त्री यदि रगीन खिलौने के समान आकर्षक है, तो वह विस्मय-विमुग्ध हो उठेगा, यदि नही, तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनो ही स्थितियाँ स्त्री के लिए अपमानजनक हैं। पश्चिमीय स्त्री की स्थिति का अध्ययन कर यदि हम अपने देश की आधुनिकता से प्रभावित महिलाओ का अध्ययन करें, तो दोनो ही ओर असतोष और उसके निराकरण मे विचित्र साम्य मिलेगा।

हमारे यहाँ की स्त्री शताब्दियो से अपने अधिकारो से वचित चली आ रही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो ने उसकी अवस्था मे परिवर्त्तन करते-करते उसे जिस अधोगति तक पहुँचा दिया है, यह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नही कही जा सकती। इस स्थिति को पहुँचकर भी जो व्यक्ति असतोष प्रकट नही करता, उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल-सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अन्त मे कठिन जान पडने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओ को समझा और उन्ही को परिवर्त्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढियो और परम्परागत सस्कारो के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के समान न सुविधाएँ मिली और न सुयोग, परन्तु उसने उन्हीं को अपना मार्ग-प्रदर्शक बनाना निश्चित किया।

शिक्षा के नितान्त अभाव और परिस्थितियो की विषमता के कारण कम स्त्रियाँ इस प्रगति को अपना सकी और जिन्होंने इन बाधाओ से ऊपर उठकर इन्हे अपनाया भी, उन्हे इसका बाह्य रूप भी अधिक आकर्षक लगा। भारतीय स्त्री ने भी अपने आपको पुरुष की प्रतिद्वद्विता मे पूर्ण देखने की

कल्पना की, परन्तु केवल इसी के रूप से उसकी चिरन्तन नारी-भावना सतुष्ट न हो सकी। उसकी भी प्रकृतिजन्य कोमलता अस्ति-नास्ति के बीच मे डगमगाती रही। कभी उसने सपूर्ण शक्ति से उसे दबाकर अपनी ऐसी कठोरता प्रकट की, जो उसके कुचले मर्मस्थल का विज्ञापन करती थी और कभी क्षणिक आवेश में प्रयत्न प्राप्त निष्ठुरता का आवरण उतार कर अपने अहेतुक हल्केपन का परिचय दिया। पुरुष कभी उससे वैसे ही भयभीत हुआ, जैसे सज्ञान विक्षिप्त से होता है और कभी वैसे ही उस पर हँसा, जैसे बडा व्यक्ति बालक के आयास पर हँसता है। कहना नही होगा कि पुरुष के ऐसे व्यवहार से स्त्री का और अधिक अनिष्ट हुआ, क्योंकि इससे अपनी योग्यता का परिचय देने के साथ-साथ अपने ज्ञान और बडे होने का प्रमाण देने का प्रयास भी करना पडा। उसके सारे प्रयत्न और आयास अपनी अनावश्यकता के कारण ही कभी-कभी दयनीय से जान पडते हैं, परन्तु वह करे भी तो क्या करे! एक ओर परम्परागत सस्कार ने उसके हृदय में यह भाव भर दिया है कि पुरुष विचार, बुद्धि और शक्ति मे उससे श्रेष्ठ है और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी-प्रवृत्ति भी उसे स्थिर नही रहने देती। इन्ही दोनो भावनाओ के बीच मे उसे अपनी ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देना है, जो उसे पुरुष के समकक्ष बैठा दे। अच्छा होता यदि स्त्री प्रतिद्वद्विता के क्षेत्र मे बिना उतरे हुए ही अपनी उपयोगिता के बल पर स्वत्वो की माँग सामने रखती, परन्तु परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नही थी। जो अप्राप्त है, उसे पा लेना कठिन नही है, परन्तु जो प्राप्त था, उसे खोकर फिर पाना अत्यधिक कठिन है। एक मे पानेवाले की योग्यता सभावित रहती है और दूसरे मे अयोग्यता, इसी से एक का कार्य उतना श्रमसाध्य नही होता, जितना दूसरे का। स्त्री के अधिकारो के विषय मे भी यही सत्य है।

(२)

इस समय हम जिन्हे आधुनिक काल की प्रतिनिधि के रूप मे देखते हैं, वे महिलाएँ तीन श्रेणियो मे रखी जा सकती हैं। त्रिवेणी की तीन धाराओ

के समान वे एक-सी होकर भी अपनी विशेषताओ मे भिन्न हैं। कुछ ऐसी हैं, जिन्होंने अपने युगान्त दीर्घ वन्धनो की अवज्ञा कर पिछले कुछ वर्षों में राजनीतिक आन्दोलन को गतिशील वनाने के लिए पुरुषो को अभूतपूर्व सहायता दी। कुछ ऐसी शिक्षिताएँ हैं, जिन्होंने अपनी अनुकूल परिस्थितियो मे भी सामाजिक जीवन की त्रुटियो का कोई उचित समाधान न पाकर अपनी शिक्षा और जागृति को आजीविका और सार्वजनिक उपयोग का साधन बनाया और कुछ ऐसी सपन्न महिलाएँ हैं, जिन्होंने थोड़ी-सी शिक्षा के साथ बहुत-सी पाश्चात्य आधुनिकता का सयोग कर अपने गृह-जीवन को एक नवीन साँचे मे ढाला है।

यह कहना अनुचित होगा कि प्रगतिशील नारी-समाज के ये विभिन्न विभाग, किसी वास्तविक अन्तर के आधार पर स्थित हैं, क्योंकि ऐसे विभाग ऐसी विशेषताओ पर आश्रित होते हैं, जो जीवन के गहन तल मे एक हो जाती हैं।

यह समझना कि राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेनेवाली स्त्रियाँ अन्य क्षेत्रो मे कार्य नही करती, या शिक्षा आदि क्षेत्रो मे कार्य करने वाली पाश्चात्य आधुनिकता से दूर रह सकी हैं, भ्रान्तिपूर्ण धारणा के अतिरिक्त और कुछ नही है। वास्तव मे ये श्रेणियाँ उनके बाह्य जीवन के सादृश्य के भीतर कार्य करने वाली वृत्तियो को समझाने के लिए ही हैं। आधुनिकता की एकरूपता को भारतीय जाग्रत महिलाओ ने अनेक रूपो मे ग्रहण किया है, जो स्वाभाविक ही था। ऐसी कोई नवीनता नही है, जो प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न रूप में नवीन नही दिखाई देती, क्योंकि देखने वाले का भिन्न दृष्टिकोण ही उसका आधार होता है। प्रत्येक स्त्री ने अपनी असुविधा, अपने सुख-दु ख और अपने व्यक्तिगत जीवन के भीतर से इस नवीनता पर दृष्टिपात किया, अत' प्रत्येक को उसमे अपनी लवलेश त्रुटियो के समाधान के चिह्न दिखाई पडे।

इन सव के आचरणो को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करने वाले

दृष्टिकोणो का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने के उपरान्त ही हम आधुनिकता के वातावरण मे विकसित नारी की कठिनाइयाँ समझ सकेंगे । उनकी स्थिति प्राचीन रूढियों के बन्धन मे बन्दिनी स्त्रियो की स्थिति से भिन्न जान पडने पर भी उससे स्पृहणीय नही है । उन्हें प्राचीन विचारो का उपासक पुरुष-समाज अवहेलना की दृष्टि से देखता है। आधुनिक दृष्टि-कोण वाले समर्थन का भाव रखते हुए भी क्रियात्मक सहायता देने मे असमर्थ रहते हैं और उग्र विचार वाले प्रोत्साहन देकर भी उन्हें अपने साथ ले चलना कठिन समझते है । वस्तुत आधुनिक स्त्री जितनी अकेली है, उतनी प्राचीन नही, क्योकि उसके पास निर्माण के उपकरण मात्र हैं, कुछ निर्मित नही । चौराहे पर खडे होकर मार्ग का निश्चय करने वाले व्यक्ति के समान वह सब के ध्यान को आकर्षित करती रहती हैं, किसी से कोई सहायतापूर्ण सहानुभूति नही पाती । यह स्थिति आकर्षक चाहे जान पडे, परन्तु सुखकर नही कही जा सकती ।

राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने वाली महिलाओ ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और उसी जागृति की ओर अग्रसर होने मे अपने सारे प्रयत्न लगा दिए । उस उथल-पुथल के युग मे स्त्री ने जो किया वह अभूतपूर्व होने के साथ-साथ उसकी शक्ति का प्रमाण भी था । यदि उसके बलिदान, उसके त्याग भूले जा सकेंगे, तो उस आन्दोलन का इतिहास भी भूला जा सकेगा । इस प्रगति द्वारा सार्वजनिक रूप से स्त्री-समाज को भी लाभ हुआ । उसके चारों ओर फैली हुई दुर्बलता नष्ट हो गयी, उसकी कोरी भावुकता छिन्न-भिन्न हो गई और उसके स्त्रीत्व से शक्तिहीनता का लाछन दूर हो गया । पुरुष ने अपनी आवश्यकतावश ही उसे साथ आने की आज्ञा दी, परन्तु स्त्री ने उससे पग मिलाकर चलकर प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बन्धन लगाकर अन्याय ही नही, अत्याचार भी किया है । जो पगु है, उसी के साथ गतिहीनता होने का अभिशाप लगा है । गतिवान् को पगु बनाकर रखना, बडी क्रूरता है ।

राष्ट्र को प्रगतिशील बनाने मे स्त्री ने अपना भी कुछ हित-साधन किया, यह सत्य है, परन्तु मधु के साथ कुछ क्षार भी मिला था। उसने जो पाया, वह भी बहुमूल्य है और जो खाया वह भी बहुमूल्य था, इस कथन मे विचित्रता के साथ-साथ सत्य भी समाहित है।

आन्दोलन के समय जिन स्त्रियो ने आधुनिकता का आह्वान सुना, उसमे सभी वर्गों की शिक्षिता स्त्रियाँ रही। उनकी नेत्रियो के पास इतना अवकाश नही था कि वे उन सब के बौद्धिक विकास की ओर ध्यान दे सकती।

यह सत्य है कि उन्हें कठोरतम सयम सिखाया, परन्तु वह सैनिको के संयम के समान एकागी रहा। वे यह न जान सकी कि युद्ध-भूमि मे प्रतिक्षण मरने के लिए प्रस्तुत सैनिक का सयम, समाज मे युग तक जीवित रहने के इच्छुक व्यक्ति सयम से भिन्न हैं। एक बन्धनो की रक्षा के लिए प्राण देता है, तो दूसरा बन्धनो की उपयोगिता के लिए जीवित रहता है। एक अच्छा सैनिक मरना सिखा सकता है और एक सच्चा नागरिक जीना, एक मे मृत्यु का सौन्दर्य है और दूसरे मे जीवन का वैभव, परन्तु, अच्छे सैनिक का अच्छा नागरिक होना यदि अवश्यम्भावी होता, तो सभवतः जीवन अधिक सुन्दर बन गया होता।

स्वभावत. ही सैनिक का जीवन उत्तेजना-प्रधान होगा और नागरिक का सवेदना-प्रधान। इसी से एक के लिए जो सहज है, वह दूसरे के लिए असंभव नही, तो कष्टसाध्य अवश्य है।

आन्दोलन के समय मे स्त्रियो ने तात्कालिक सयम और उससे उत्पन्न कठोरता को जीवन का आवश्यक अंग मानकर स्वीकार किया, अपने प्रस्तुत उद्देश्य का साधन मात्र मानकर नही। इससे उनके जीवन मे जो एक दक्षता व्याप्त हो गई है, उसने उन्हीं तक सीमित न रहकर उनके सुरक्षित गृहजीवन को भी स्पर्श किया है। वास्तव मे उनमें से अधिकाश महिलाएँ रूढियो के भार से दबी जा रही थी, अतः देश की जागृति के साथ-साथ उनकी क्रांति ने

भी आत्म-विज्ञापन का अवसर और उसके उपयुक्त साधन पा लिए । वही इन परिस्थितियो मे स्वाभाविक भी था, परन्तु वे यह स्मरण न रख सकी कि विद्रोह केवल जीवन के विशेष विकास का साधन होकर ही उपयोगी रह सकता है । वह सामाजिक शक्ति का परिचय नहीं, उसके सतोष की अभिव्यक्ति है ।

उस करुण युग के अनुष्ठान मे भाग लेने वाली स्त्रियो ने जीवन की सारी सुकोमल कला नष्ट करके समार-सग्राम मे विद्रोह को अपना अमोघ अस्त्र वनाया । समाज उनके त्याग पर श्रद्धा रखता है, परन्तु उनकी विद्रोहमयी रुक्षता से भयभीत है । जीवन का पहले से सुन्दर और पूर्ण चित्र उनमे नही मिलता, अत अनेक आधुनिकता के पोषक भी उन्हें सदिग्ध दृष्टि से देखते हैं । अनन्त काल से स्त्री का जीवन तरल पदार्थ के समान सभी परिस्थितियो के उपयुक्त बनता आ रहा है, इसलिए उसकी कठिनता आश्चर्य और भय का कारण बन गई है । अनेक व्यक्तियो की धारणा है कि उच्छृखलता की सीमा का स्पर्श करती हुई स्वतन्त्रता, प्रत्येक अच्छे-बुरे बन्धन के प्रति उपेक्षा का भाव अनेक अच्छे-बुरे व्यक्तियो से सख्यत्व और अकारण कठोरता आदि उनकी विशेषताएँ हैं । इस धारणा मे भ्राति का भी समावेश है, परन्तु यह नितान्त निर्मूल नहीं कही जा सकती । अनेक परिवारो मे जीवन की कटुता का प्रत्यक्षीकरण स्त्रियो की कठोरता का सीमातीत हो जाना ही है, यह सत्य है, परन्तु इसके लिए केवल स्त्रियाँ ही दोषी नही ठहराई जा सकती । परिस्थिति इतनी कठोर थी कि उन्हे उस पर विजय पाने के लिए कठोरतम अस्त्र ग्रहण करना पडा । उनमे जो विचारशील थी, उन्होने प्राचीन नारियो के समान कृपाण और ककण का सयोग कर दिया, जो नही थी उन्होंने अपने स्त्रीत्व से अधिक विद्रोह पर विश्वास किया । वे जीने की कला नही जानतीं, परन्तु सघर्ष की कला जानती हैं, जो वास्तव मे अपूर्ण हैं । सघर्ष की कला लेकर तो मनुष्य उत्पन्न ही हुआ है, उसे सीखने कही जाना नहीं पडता । यदि वास्तव मे मनुष्य ने इतने युगो मे कुछ सीखा है, तो वह जीने की कला

कही जा सकती है। सघर्ष जीवन का आदि हो सकता है; अन्त नहीं। इसका यह अर्थ नही कि सघर्षहीन जीवन ही जीवन है। वास्तव मे मनुष्य जाति नष्ट करने वाले सघर्ष से अपने आपको वचाती हुई विकास करने वाले सघर्ष की ओर वढती जाती है।

सामाजिक प्रगति का अर्थ भी यही है कि मनुष्य अपनी उपयोगिता वढाने के साथ-साथ नष्ट करने वाली परिस्थितियो की सभावना कम करता चले। किसी परिस्थिति मे वह हिम के समान अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है और किसी परिस्थिति मे वह जल के समान तरल होकर अज्ञात दिशा मे वह चलता है। स्त्री का जीवन भी अपने विकास के लिए ऐसी ही अनुकूलता चाहता है, परन्तु सामाजिक जीवन मे परिस्थिति की अनुकूलता मे विविधता है। हम अपना एक ही केन्द्र-विन्दु वनाकर जीवन-सघर्ष मे नही ठहर सकते और न अपना कल्याण ही कर सकते हैं। स्त्री की जीवन-शक्ति का ह्रास इसी कारण हुआ कि वह अपने को अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति के अनुरूप वनाने मे असमर्थ रही। उसने एक केन्द्र-विन्दु पर अपनी दृष्टि को तव तक स्थिर रक्खा, जव तक चारो ओर की परिस्थितियो ने उसकी दृष्टि नही रोक ली। उस स्थिति मे प्रकाश से अचानक अन्धकार मे आए हुए व्यक्ति के समान वह कुछ भी न देख सकी। फिर भी, प्रकृतिस्थ होने पर उसने वही पिछला अनुभव दोहराया।

जागृत-युग की उपासिकाओ के जीवन भी त्रुटि से रहित नही रहे। उन्होंने अपनी दृष्टि का एक ही केन्द्र कर रक्खा है, अत उन्हे अपने चारो ओर के सदिग्ध वातावरण को देखने का न अवकाश है और न प्रयोजन। वे समझती हैं कि वे राष्ट्रीय जागृति की अग्रदूती के अतिरिक्त और कुछ न बनकर भी अपने जीवन को सफलता के चरम सोपान तक पहुँचा देंगी। इस दिशा मे उनकी गति का अवरोध करने वालो की सख्या कम नही रही, यह सत्य है, परन्तु इसीलिए वे अपना गन्तव्य भी नही देखना चाहती, यह कहना बहुत तर्कपूर्ण नही कहा जा सकता। ऐसा कोई त्याग या बलिदान

नही, जिसका उद्गम नारीत्व न रही हो, अत केवल त्याग के अधिकार को पाने के लिए अपने-आपको ऐसा रुक्ष वना लेने की कोई आवश्यकता नही जान पडती ।

जिन शिक्षिताओ ने गृह के वन्धनो की अवहेलना कर सार्वजनिक क्षेत्र में अपना मार्ग प्रशस्त किया, उनकी कहानी भी वहुत कुछ ऐसी ही है । उनके सामने नवीन युग का आह्वान और पीछे अनेक रूढियो का भार था । किसी विशेष न्याय या वलिदान की भावना लेकर वे नये जीवन-सग्राम मे अग्रसर हुई थी, यह कहना सत्य न होगा । वास्तव मे गृह की सीमा मे उनसे इतना अधिक त्याग और वलिदान माँगा गया कि वे उसके प्रति विद्रोह कर उठीं । स्वेच्छा से दी हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी मनुष्य का दान कहलाती है, परन्तु अनिच्छा से दिया हुआ अधिक-से-अधिक द्रव्य भी मनुष्य का अधीनता-सूचक कर ही समझा जायगा । स्त्री को जो कुछ वलात् देना पडता है, वह उसके दान की महिमा न वढा सकेगा, यह शिक्षिता स्त्री भली-भाँति जान गई थी ।

भविष्य मे भारतीय समाज की क्या रूपरेखा हो, उसमें नारी की कैसी स्थिति हो, उसके अधिकारो की क्या सीमा हो, आदि समस्याओ का समाधान, आज की जाग्रत और शिक्षिता नारी पर निर्भर है । यदि वह अपनी दुरवस्था के कारणो को स्मरण रख सके और पुरुष की स्वार्थपरता को विस्मरण कर सके, तो भावी समाज का स्वप्न सुन्दर और सत्य हो सकता है; परन्तु यदि वह अपने विरोध को ही चरम लक्ष्य मान ले और पुरुष से समझौते के प्रश्न को ही पराजय का पर्याय समझ ले, तो जीवन की व्यवस्था अनिश्चित और विकास का क्रम शिथिल होता जायगा ।

क्राति की अग्रदूती और स्वतन्त्रता की ध्वजा-धारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण मे शेष होगा, केवल ध्वस में नही ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
(सन् १९०६--१९६७ ई०)

हिन्दी-साहित्य के गगनमंडल पर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का उदय एक समर्थ ओजस्वी आलोचक के रूप मे हुआ था। शैली की दृष्टि से आपकी आलोचना के दो रूप मिलते हैं—एक तो व्याख्यात्मक तथा दूसरी विवेचनात्मक। व्याख्या को प्रभावशाली बनाने के लिए कहीं-कहीं आप तुलना का सहारा भी ले लेते हैं। जैसे, 'साकेत' की आधुनिकता पर विचार करते समय आपने 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'मानस' सभी का उल्लेख किया है।

वाजपेयी जी की शैली में व्यंग्य का सटीक प्रयोग हुआ है। उनके व्यंग्य मर्यादित, संयमित पर अचूक प्रभाव डालने वाले होते हैं।

वाजपेयी जी की भाषा गहन, बौद्धिक तथा सूक्ष्म विचारो के सर्वथा उपयुक्त है। उनकी भाषा में गंभीरता है, संयम है, परिमार्जन है। सूक्ष्म एवं गहन विचारों का वहन करते हुए भी उनकी भाषा कहीं भी बोझिल नहीं हुई है, अपितु वह सर्वत्र प्रवाहपूर्ण है। विषयानुसार आपकी भाषा मे सामान्य बोलचाल के शब्द तथा अंग्रेजी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वस्तुतः उनकी समीक्षाओं तथा निबन्धो की भाषा उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व की परिचायक है।

इस प्रकार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एक प्रखर, ओजस्वी आलोचक तथा कुशल निबन्धकार के रूप में सुप्रतिष्ठित हैं। परन्तु मूलतः वह एक उच्चकोटि के आलोचक हैं। उनकी आलोचना का क्षेत्र भी विस्तृत है। उन्होने द्विवेदी-युग के कवियो तथा लेखकों से आरम्भ करके नयी कविता के कवियों तथा नवीन उपन्यासो एवं नाटको के रचयिताओ तक को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है।

इस प्रकार वाजपेयी जी हिन्दी-आलोचना के वह सुदृढ़ आधार-स्तम्भ हैं, जिनका महत्त्व सदा स्मरणीय रहेगा।

साहित्य और जीवन

⊙○

हमारी हिन्दी मे और अन्यत्र भी इन दिनो साहित्य और जीवन मे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलो और कालेजो के विद्यार्थी बडी उमग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी लिवास मे रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले सैनिक साहित्यिक के बडे गुण-गान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओ मे जोशीले लेख छपते हैं जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढकर लेखो को लेखको के खून से सराबोर देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड से उखाड फेंकने का सरजाम आयोजन करेगा और जीवन को नितात उग्र और, सम्भव है, पाखडपूर्ण भी बना देगा। बगाल मे ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण, महाकवि रवीन्द्रनाथ को, कियत्काल के लिए ही सही, धक्का उठाना पडता है और आज हिन्दी मे भी हवा चल रही है। हम जिस सकीर्ण वात्याचक्र मे घिरे हुए सांस ले रहे हैं, उसमे यदि साहित्य को राजनीतिक प्रोपेगण्डा का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशो मे भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नही करते।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध देखने के लिए क्षणिक, राष्ट्रीय

आवश्यकताओ की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश मे क्षितिज के पास रक्तिम वर्ण ही को न देखें। सम्पूर्ण सौरमण्डल और उसके अपार विस्तार, अगणित रग-रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शव्दावली मे हम क्षणिक मिथ्या यथार्थ को ग्रहण करने मे लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करें जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का सम्वन्व अत्यत व्यापक अर्थ मे मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह मे न पडें।

साहित्य के साथ जीवन का सम्वन्ध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली बार फ्रेंच-राज्य-क्राति के उपरांत किया गया और हमारे देश मे आधुनिक रूप मे, यह अभी कल की वस्तु है। इगलैण्ड मे वर्ड्सवर्थ और फ्रास मे विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचार शैली के आविर्भाव करने वालो मे से हैं। प्रारम्भ मे इसका रूप अत्यन्त समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन असगत हो गया था। उसके स्थान मे नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल मे वड़ी ही सरल और सात्विक भावनाएँ थी। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य मे भी प्रकृति-प्रेम, सरल जीवन आदि की भावनाएँ देख पडी। यहाँ पर कृत्रिमता किंचित् नही थी। अग्रेंजी साहित्य मे मेथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौन्दर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियो की प्रशसा कर सकते थे परन्तु बहुत दिन ऐसे नही रह सके। शीघ्र ही यूरोप मे राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओ का विस्तार हुआ और रूस मे समाज-सम्बन्धी शक्तिशालिनी उत्क्राति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाजवाद की सेवा मे उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतन्त्रता वनी न रह सकी। साहित्य अधिकाश मे राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक सघटनो का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग को नवीन वस्तु के रूप मे उसको बाजार

अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं भारत में भी धड़ाके से चल रहा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहित्य परतन्त्र—सामयिक जीवन की बँधी हुई लीक में चलने को बाध्य किया गया है। साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्वभाव-सिद्ध सर्वथा मंगलमय है, पर क्या इस प्रकार का सम्बन्ध स्वभाव सिद्ध कहा जा सकता है? जीवन की स्वच्छन्द धारा ही जहाँ बँधी हुई है वहाँ साहित्य तो शिकंजे में जकड़ा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निन्दा करते हैं।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के सिलसिले में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत बाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस, साहित्यकार को भी पब्लिकमैन बना दिया गया। साहित्यालोचन की पुस्तकें निकलीं, उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए बिना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ सकता। ऐतिहासिक अनुसन्धानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेषण किया गया तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से बहुत-से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला। बहुत-से पाखंडी प्रकाश में आए। परन्तु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है नहीं तो 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनन्दभवन' और 'शान्तिनिकेतन' के बीच में ही भटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं बन सकता, क्योंकि 'सैनिक' बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था सभा के सभासद् आदि के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिकत्व' का स्वतः कोई महत्व

नही। 'सैनिकत्व'—इस शब्द का जो अन्तरंग है, साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिये। साहित्य और जीवन का यह सम्बन्ध है जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते हैं, पर हिन्दी मे लोग ऐसा नहीं करते, इसका हमे दु:ख है। अग्रेजी साहित्य-समीक्षा में व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की परिपाटी काफी समय तक चली, पर हाल में इसका प्रयोग कम पड रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण असूक्ष्म-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है, नहीं तो साहित्य में बडा विषम भाव और बडा विद्वेष फैलने की आशका है।

साहित्यकार को जीवन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार रखने और भिन्न-भिन्न साहित्य-सरणियो मे चलने के अधिक-से-अधिक अधिकार मिलने चाहिए। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओ और उस सम्बन्ध की अपनी धारणाओं से नही परख सकते। हमे उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियो से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियो और लेखको के नैतिक और चरित्र-सम्बन्धी पतन ही न देखें, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता की ही निन्दा न करें, यदि वास्तव में उन्होने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन-सौंदर्य कल्पना और भव्य भावजगत् की रचना की है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बंगालियो ने विकट-विकट आक्षेप किए हैं और वर्तमान राजनीति में सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यगो की भी झडी लगी है, पर क्या साहित्यिक-समीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जायेंगी?

जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर-क्रिया को, विशेष महत्व नही देते और चेतन-शक्ति पर विश्वास करते हैं, उसमे महाकवि रवीन्द्र को इससे अच्छा पुरस्कार मिलना चाहिए। रवि बाबू स्वदेश-प्रेम को सम्पूर्ण मनुष्यता और

विश्वप्रेम के धरातल पर उठाकर रखने मे समर्थ हुए हैं, उन्होने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जडत्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियो और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से उन्होंने ससार की शान्ति और साम्य के लिए एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है जिसकी सम्भावनाएँ भविष्य मे अपार हैं। इसके लिए यदि हम उनके कृतज्ञ नही होते और यह जरूरी समझते हैं कि वे जनता के नेता का रूप धारण करें, तो यह हमारी ही सकीर्ण भावना है जो हमे प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नही देती।

साहित्य और जीवन मे घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनो मे अन्तर रहेगा ही। जीवन मे तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य मे उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनन्त आकाश मे साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक करते हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि-रूप है, साहित्य मे कुछ नियम भी अपेक्षित हैं। यह अवश्य है कि हम जिस हवा में सांस लेते हैं प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हममे प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल उन परमाणुओ का सग्रह होकर ही नही रह सकता। प्रत्येक सभ्य प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान में रहता हुआ अतीत और भविष्य मे भी रहता है। साहित्यकार के लिए तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भग करने मे ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्त्व है जितना वह उनके विराट् सर्वकालीन, यथार्थ जीवन की कल्पना मे सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान् कलाकारो की बात कही जा रही है।

साहित्य कला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुन्दर विशेषताएँ हैं जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नही खाती। साहित्य मे 'राम और कृष्ण' चिर-सुन्दर अकित किए गए हैं, कलाओ मे उनके चित्र भी वैसे ही मिलते हैं, पर जीवन मे तो वे वैसे नही रहे होंगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ

इन्द्र-धनुष-सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक रुखे अस्तित्व को मनोरम बना देती है। साहित्य मे मनुष्य का जीवन ही नही, जीवन की वे कामनाएँ जो अनन्त जीवन मे भी पूरी नही हो सकती, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य मे उस अभि-व्यक्ति की आशा-उत्कण्ठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है। तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान् और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्गद्रष्टा भी रहता आया है।

●

डॉ० गुलाबराय

(सन् १८८८ ई०–१९६३ ई०)

बाबू गुलाबराय के दो बहुचर्चित व्यक्तित्व हैं—एक तो आलोचक और दूसरा निबन्धकार का। इनके अतिरिक्त आपने 'दैनिकी (डायरी)', 'यात्रा-वृत्तांत', 'संस्मरण' आदि कई स्फुट रचनाएँ भी की हैं।

हिन्दी-साहित्य में बाबू गुलाबराय का सर्वाधिक महत्त्व आलोचक के रूप में है। आपकी आलोचना के प्रमुख दो रूप हैं—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। 'नवरस', 'साहित्य समीक्षा', 'काव्य के रूप' आदि आपके प्रमुख सैद्धान्तिक समीक्षा-ग्रन्थ हैं। 'हिन्दी काव्य विमर्श' तथा 'अध्ययन और आस्वाद' नामक ग्रन्थ आपकी व्यावहारिक आलोचना का परिचय देते हैं।

आलोचना के क्षेत्र में बाबू जी व्याख्यात्मक आलोचना की पद्धति को महत्त्व देते हैं। व्यावहारिक आलोचना में उनका एक प्रखर आलोचक का रूप निखर कर सामने आया है।

बाबू गुलाबराय एक उत्कृष्ट निबन्धकार भी हैं। उनके निबन्धों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विविध विषयों पर उन्होंने अनेकों निबन्ध लिखे हैं। 'ठलुआ क्लब', 'मेरे निबन्ध', 'अध्ययन और आस्वाद',' प्रबन्ध प्रभाकर' आदि उनके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं।

आपके निबन्धों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमें आलोचनात्मक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक प्रमुख श्रेणियां हैं। बाबू जी के निबन्धों की प्रमुख विशेषता शैली की वैयक्तिकता है। आत्म-व्यंजना की यह झलक प्राय हर निबन्ध में मिलती है। 'साहित्य संदेश' के संपादक के रूप में बाबू जी ने समीक्षात्मक निबन्धों को दिशा प्रदान कर साहित्य

की बहुमूल्य सेवा की है। भाषा विषयानुसार संयत, गम्भीर, तत्सम-प्रधान, सरल, सरस तथा प्रवाहमयी है। वे संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि शब्दो का प्रयोग भी करते हैं। हास्य तथा व्यंग्य का स्वस्थ पुट उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। उनके निबन्धो की भाषा तथा शैली उनके व्यक्तित्व की परिचायक है।

इस प्रकार हिन्दी गद्य के उन्नायकों में बाबू गुलाबराय अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी सुदीर्घकालीन साहित्यिक सेवाओं से हिन्दी का साहित्य सम्पन्न हुआ है और उसे दिशा भी मिली है।

प्रभुजी ! मेरे औगुन चित न धरौ

○○

सूर और तुलसी की भाँति मैं यह तो नही कह सकता कि मेरे दोषो को स्वय माता शारदा भी सिंधु की दवात मे काले पहाड की स्याही घोल-कर पृथ्वी के कागज पर कल्प-वृक्ष की कलम से भी नहीं लिख सकती हैं। इतने भारी झूठ के मोल मे दैन्य खरीदने की मुझमे सामर्थ्य नहीं है। बात यह है कि वे लोग तो कवि थे, उनकी अतिशयोक्तियाँ भी अलकार बन जाती है—समरथ को नहि दोष गुसाईं। महिम्नस्तोत्र के कर्त्ता बेचारे पुष्पदन्ता-चार्य ने जो बात भगवान के गुणो के लिए कही थी ('असितगिरिसम स्यात्कज्जल सिंधु पात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाल, तदपि तव गुणानामीश ! पार न याति।') वही बात सूर और तुलसी ने अपने अवगुणो के लिए लिख दी। कवि तो भगवान की स्पर्द्धा कर सकता है, क्योकि भगवान को भी कवि कहा गया है—'कवि पुराणमनुशासितारम्।' लेकिन बेचारे गद्यलेखक की क्या ताब है जो अपने छोटे मुंह इतनी बडी बात कह डाले। हाँ फिर भी मुझमें अवगुण हैं और उनको मैं जानता हूँ—साँप के पैर साँप को ही दीखते हैं—उनको शायद परमेश्वर भी न जानते हो, क्योंकि जहाँ तक मैंने सुना है, वे भले पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं और भले आदमी दूसरो के दोषों को स्वप्न में भी नहीं देखते और यदि देखते भी हैं तो सुमेरु-से दोषो को राई बराबर। बुराई उनकी कल्पना की पहुँच से बाहर है।

ख्याति की चाह को मिल्टन ने बडे आदमियो की अतिम कमजोरी कहा है, लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है, क्योंकि मैं छोटा आदमी हूँ। यश-लोलुपता के पीछे दु ख भी काफी उठाना पडता है। ख्याति की

चाह ही—जिसको मैं दूसरो की आंख मे धूल झोकने के लिए साहित्य-सृजन की प्रारम्भ-प्रेरणा कह दूं—मुझे इस समय जाडे की रात में गद्दे-लिहाफ का सन्यास करा रही है। रोज कुआं खोदकर रोज पानी पीने की उक्ति सार्थक करते हुए मुझे भी कालेज के लडको को पढाने के लिए स्वय भी अध्ययन करना पडता है। उसकी सुध-बुध भूलकर, और यमदूत नही तो कम-से-कम कजूस कर्जख्वाह की भांति प्रूफो के लिए प्रात काल ही अपने अवाञ्छित दर्शन देने वाले प्रेस के भूत (कम्पोजीटर) की मांग की भी अवहेलना करते, देश के दगो के शमन और शरणार्थियों के पाकिस्तान के निष्कासन की भांति इस लेख को मैं चोटी की प्राथमिकता (*top priority*) दे रहा हूँ।

आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्देश्यो मे यश को सर्वप्रथम (यह शब्द मुझे सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता का स्मरण दिलाता है) स्थान दिया है। काव्य यश से पहले और अर्थकृते पीछे (बस वह पीछे ही रखने की बात है भूलने की नही) कहा था किन्तु आजकल जमाना पलटने से उसका क्रम भी पलट गया है। त्रेता-युग मे लडाइयाँ भी यश के लिए ही लडी जाती थी। रघुवश में कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कहा है 'यशसे विजगीषुणाम्' किन्तु आजकल विजय भी अर्थकृते ही की जाती है। फिर भी मुझ जैसा प्राचीन-पथी, 'चील के घोसले मे मांस' की भांति अर्थाभाव के होते हुए भी, यश-लोलुपता से पल्ला नही छुडा सका है। रेल की यात्राओ की यम-यातनाओ के कारण (कभी-कभी वे बहुत लम्बी यात्रा करा देती हैं) दूर के स्थानो की सभाओ का सभापतित्व करना छोड़ दिया है और उसके लिए मुझे इतना ही श्रेय मिल सकता है जितना कि वृद्धा वेश्या को सती होने का किन्तु निकट के मथुरा, अलीगढ आदि स्थानो को कुछ अधिक आग्रह करने पर नही छोडता। स्थानीय सभाओ मे, यदि वे निशाचरी वृत्तिवालो की न हो, तो गीता का काला अक्षर भैंस बराबर जानते हुए भी गीता तक पर व्याख्यान देने और अपने अल्पज्ञ श्रोताओ का साधुवाद लेने

पहुँच जाता हूँ । काले अक्षर मेरे लिए भैंस बराबर ही हैं । वे मेरे लिए चन्द्रज्योत्स्ना-सा धवल यश और साथ ही कम-से-कम इस संसार में निरुपम, और यदि स्वर्ग तक पहुँच होती तो अमृतोपम दुग्ध-धारा का सृजन कर देते हैं। कभी-कभी भैंस की भाँति वे ठल्ल भी हो जाते हैं। दिमाग का दिवालियापन मैं सहज में स्वीकार नहीं करता और लोग करने भी नहीं देते। 'श्रवण समीप' यद्यपि सारे सर के बाल सफेद हो जाने पर भी, 'अंग गलित' तो नहीं, 'पलित मुण्ड' अवश्य और करीब-करीब ५० प्रतिशत 'दशनविहीन जात तुण्डम्' का अभी 'करधृतकम्पितशोभितदण्डम्' की बात नहीं आयी, दण्ड देने से मैं सदा बचता हूँ, रामचन्द्र जी के राज्य में तो दण्ड जनित कर ही था, मैं यदि राजा होता तो उसका गदहे के सींगों की भाँति अत्यंताभाव करा देता किन्तु खुदा गंजे को नाखून नहीं देता। वार्द्धक्य का, अच्छे सेकिंड डिवीजन का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेने पर भी, 'भज गोविंद भज गोविंद भज गोविंद भज मूढमते' की बात सोचकर लेखनी को विश्राम नहीं देता।

यश-लोलुप होते हुए भी नेतागीरी से कुछ दूर रहा हूँ । लेखन-कार्य में तो चारपाई पर पड़े-पड़े भी यश-लाभ की जुगति लग जाती है, नेतागीरी में खैर, पैदल तो नहीं मोटर-ताँगों में घूमना पड़ता है (रक्त चाप के कारण तथा धनाभाव के कारण वायु-यान में बैठकर देवताओं की स्पर्द्धा नहीं करना चाहता, मनुष्य बना रहना मेरे लिए काफी है), गला फाड़कर कभी-कभी बिना लाउड-स्पीकर के भी व्याख्यान देना होता है, जाड़ों में भी शुद्ध खद्दर का बगुले के पंख से सफेद (बगुले की सफेदी के गुण की ही उपमा दी गयी है) कुरते में ही संतोष करना पड़ता है और घर पर मक्खन-टोस्ट खाते हुए भी बाहर पार्टियों में चना-गुड़ खाने का त्याग दिखाना होता है । खैर अब जेल जाने की बात नहीं रही ।

उदारता तो कभी-कभी छाती पर पत्थर रखकर भी कर देता हूँ किन्तु बिना एहसान जताये नहीं रहता । जहाँ तक लक्षणा-व्यञ्जना के साहित्यिक साधनों की पहुँच है उन सबका प्रयोग कर लेता हूँ, फिर भी यदि कोई संकेत-

ग्राही चतुर पुरुष न मिला तो यथासभव अभिधा से भी काम ले लेने की निर्लज्जता कर बैठता हूँ। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि मैं उपकृत का सम्मान बहुत करता हूँ। उस पर अहसान जताते हुए उसमे हीनता का भाव उत्पन्न नही होने देता हूँ। मुझे तुलसीदास जी की बात याद आ जाती है—'दान मान सतोष'—उपकृत मुझे बडा बनने का अवसर देता है। उसका मैं सदा आभार मानता हूँ। अहसान जताने के लिए जब हार्दिक ग्लानि होती है तब माफी भी माँग लेता हूँ; एक जगह यह भी सुनने को मिला 'जूता मारकर दुशाले से पोछने से क्या लाभ ?'

जहाँ यश-प्राप्ति और धन-लाभ के साथ आलस्य का सघर्ष न हो वहाँ आलस्य शीर्षस्थान पाता है। साधारणतया मैं बाबा मलूकदास के "अजगर करै न चाकरी पछी करै न काम, दास मलूका कह्व गये सबके दाता राम" वाले अमर काव्य को अपना आदर्श वाक्य बनाना चाहता हूँ और इस प्रवृत्ति के कारण सतोषी होने का श्रेय भी पा जाता हूँ किन्तु इस युग में बिना हाथ-पैर पीटे काम नहीं चलता—'नहि सुप्तस्य सिहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।'

मेरी स्वार्थ-परायणता मेरे आलस्य और आराम-तलबी पर सान चढा देती है, फिर शारीरिक शैथिल्य ने तो आलस्य का प्रमाण-पत्र दे दिया है। मैं अपने पास-पडोसी या सबधी के प्र-प्रपितामह का भी मरना नहीं चाहता। उसमे मानवता की मात्रा तो वाजिबी ही है, किन्तु उस शुभकामना का असली उद्देश्य यह होता है कि श्मशान तक न जाना पड़े। जहाँ स्वार्थ-साधन की बात न हो वहाँ बडी-से-बड़ी भव्य बात भी फीकी पड जाती है। सरल साहित्य-सेवियों की मंडली में जहाँ मुझे कुछ ज्ञान प्राप्ति की भी सभावना नहीं होती, मैं भी उन लोगो की बातो मे रस लेने का अभिनय-सा कर देता हूँ। कभी-कभी मेरी उदासीनता प्रकट हो जाती है। मैं पक्का उपयोगितावादी हूँ किन्तु मेरा स्वार्थ सीमा से बाहर नहीं जाने देता। अपने स्वार्थ का यदि दूसरे के स्वार्थ से सघर्ष हो तो मैं दूसरे के स्वार्थ को मुख्यता देता हूँ। मैं हमेशा यह चाहता रहता हूँ कि भगवान कही से छप्पड़ फाड़कर दे दें,

किन्तु दुर्भाग्यवश मेरे मकान में कोई छप्पड़ नहीं है और मैं धन के लिए भी अपने मकान की छत तोड़ना नहीं चाहता । इसीलिए शायद गरीब हूँ । कुपटी और दोस्तों की बात नहीं हो सकती ।

मान-मद तो मुझमें नहीं है फिर भी बड़े आदमियों द्वारा अपमान को सहन नहीं कर सकता हूँ । गरीब आदमी द्वारा किया हुआ अपमान मैं यद्यपि मृगु की लात की भाँति सहर्ष स्वीकार कर लेता हूँ क्योंकि वह बिना किसी कारण के या बिना किसी हीनता-ग्रन्थि के सहज में दूसरे का अपमान नहीं करता । क्रोध भी मैं अपने से बड़ों पर ही करता हूँ । छोटों पर दिखावटी क्रोध भी नहीं करता । द्वेष तो मैं किसी से नहीं करता—बनिया जिसका यार, उसको दुश्मन क्या दरकार ? इसका अर्थ मैं यह लगाया करता हूँ कि बनिये का इतना सद्व्यवहार होता है कि उसके और उसके मित्रों तक के कोई दुश्मन नहीं होते (जब यह कहावत बनी तब ब्लैक मार्केट नहीं थे ।) हाँ, ईर्ष्या अवश्य होती है । जब दूसरे लोगों को, जो मेरे साथी थे, मोटरों पर चलता देखता हूँ और मैं स्वयं धूप निवारण करने के लिए सर पर धोट डाल कर सड़क पर बिना द्रुम-छाया के भी विश्रम्य-विश्रम्य चलता हूँ तब ईर्ष्या अवश्य होती है और सोचता हूँ कि मुझे भी कुछ अधिक साहसी, उद्योगी और थोड़ा-बहुत बेईमान भी बनना चाहिए था । बनिये लोग वैसे तो फौज में जाते हैं, कप्तान और कर्नल बनते हैं और उन्होंने इस कलंक को धो डाला है—कि 'वहाँ जायँ क्षत्रिय-पुत्र यह नहीं बनिये की बात' । अब उन पर यह व्यंग्य नहीं किया जाता कि 'सत्कारात् प्रपलायति' अथवा 'यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नोऽसि गजस्तत्र न हन्यते' फिर भी 'आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च' में और गुणों के साथ भय मुझमें प्रचुर मात्रा में है । इसे मैं पहले गिनाता हूँ । गीता पर व्याख्यान देते हुए मैं चाहे बड़ी शान के साथ यह कहूँ कि अभय को दैवी सम्पत्ति में पहला स्थान दिया गया है किन्तु यह 'पर-उपदेश-कुशल' की बात है । निर्भयता की हिन्दू-मुस्लिम-दंगों में काफी परीक्षा हो गयी है । उन दिनों घर से दुर्ग से बाहर नहीं

निकला । सरकार से मोर्चा लेने की बात मैंने कभी सोची भी नही, क्योकि जब जेल जाने के लिए प्रभु ईसा-मसीह की भाँति ईश्वर से प्रार्थना करना पडे कि 'या खुदा आफत का प्याला मुझसे टाल' तो फिर उस राह जाने से ही क्या काम ? और जिस राह नही जाता उसके पेड भी नही गिनता। पुलिस को धोखा देने मे मजा अवश्य आता है, बुद्धि के चमत्कार पर गर्व करने को भी मिलता है, किन्तु वह कम से कम महात्मा गांधी के अर्थ मे बहादुरी नही कही जाती है। मुझमे न इतना साहस है और न इतना शारीरिक बल कि रात-बिरात खाई-खदको मे घूमता फिरूँ और फिर जेल मे घर का-सा आराम कहाँ ? (वैरागी बाबा तुलसीदासजी को राम-नाम के उपमान के लिए घर से बढकर उपमान नहीं मिला 'सुखद अपनो सो घर है') । मैं काग्रेस जनो की बुराई करते हुए भी, गाधी जी की भाँति चार आने का मेम्बर भी न होता हुआ भी, और लोगो के आग्रह करने पर भी गांधी टोपी को पूर्णतया न अपनाने पर भी, और जेल जाने का प्रमाण-पत्र न प्राप्त करते हुए भी, काग्रेस के आदर्शों का परम भक्त हूँ। इस बात को शायद पिछली सरकार के सामने भी स्वीकार करने को तैयार था। कभी-कभी अपने मित्रो से काग्रेस के पक्ष मे लडाई भी लडनी पडती है किन्तु फिर भी निर्भयता का गुण नही अपना सका हूँ। जीवधारियों की शेष कमजोरियाँ भी मुझमे उचित सीमा के भीतर वर्तमान हैं। अन्तिम को मेरी अवगुणों की सूची मे अंतिम ही स्थान मिला है। उसको मैं मानसिक रूप देने का ही गुनहगार हूँ क्योकि मनोभाव को उचित स्थान मन मे ही है। 'नेत्र-सुख केन वार्यते' के सिद्धान्त को मैं मानता हूँ। किन्तु गंजे के नाखूनों की भाँति नेत्र की ज्योति भी ईश्वर की दया से मंद ही है। नेत्रों के पाप से भी यथासम्भव बचा ही रहता हूँ किन्तु मानसिक दृष्टि मन्द नहीं हुई है। उस दिन को मैं दूर ही रखना चाहता हूँ जब मन-मोदकों से भी वञ्चित हो जाऊँ।

आहार को पण्डितों ने पहिला स्थान दिया है किन्तु मैं उसे भय के

पश्चात् दूसरा स्थान देता हूँ। आहार जीवन की आवश्यकता ही नहीं वरन जीवन का आनन्द भी है। डाक्टरों की कृपा से कहूँ, या रोगों के प्रकोप से कहूँ, आहार का आनन्द बहुत सीमित हो गया है फिर भी नित्य ही पाचन शक्ति के अनुकूल थोड़ा-बहुत भाग मिल जाता है। काव्य से अधिक 'सद्य परनिर्वृत्ति' भोजनों में मिलती है। उपवास में विश्वास रखते हुए भी मैं एकादशी व्रत तब तक नहीं रखता जब तक छप्पन प्रकार के व्यञ्जन नहीं तो कम-से-कम एकादश प्रकार के भोज्य-पदार्थों के मिलने की सम्भावना न हो।

दोपहर का भोजन तो भर पेट कर लेता हूँ, उसमें तो मैं अपने नवयुवक बन्धुओं से बाजी ले जाता हूँ, सायंकाल को मैं आधे पेट ही सोता हूँ, गरीब भारत की आधे पेट सोनेवाली जनता की सहानुभूति से नहीं, और न अर्थाभाव से, किन्तु आटे में वर्तमान शक्कर की मात्रा के पचाने वाले पैंक्रियस (pancreas) के रस के अभाव के कारण। इस अभाव की पूर्ति मैं इन्स्युलिन के इन्जेक्शनों से कर लेता हूँ। अन्धकार की भाँति मेरा शरीर भी सूची-भेद्य है और जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है, मेरे शरीर में जितनी सुइयाँ लग चुकी हैं उतने बाण भीष्म पितामह की शर-शैया में भी न होंगे।

मिठास का मैं यथासम्भव त्याग करता हूँ किन्तु दूध के साथ शर्करा का वियोग कराना मैं पाप समझता हूँ। क्षीर और शर्करा के जोड़े में एक का विच्छेद करने से मुझे क्रौंच-मिथुन की बात याद आ जाती है और भय लगता है। कोई वाल्मीकि जैसे करुणार्द्र हृदय ऋषि मुझे भी शाप न दे दें कि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।' लेकिन शक्कर इतनी ही खा सकता हूँ जितना दाल में नमक डाला जाता है या किसी आचमन के मन्त्र-समाज में बिना आत्म-सम्मान खोये कोई मूढ़ बोल सकता है। मिठाई मैं शौक लेकर बहुत कम खाता हूँ [illegible] मैं आलू-कन्द भी नहीं लेता। परोसे भोजन का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। मैं किसी के निमन्त्रण का तिरस्कार नहीं करता किन्तु मर्यादा का ध्यान अवश्य रखता हूँ। फिर

भी रोग-मुक्त नही हो पाता हूँ क्योकि डाक्टरो की बाँधी हुई सौमित्र-रेखा का मान करने मे मैं असमर्थ हूँ। दावतो मे जाकर अपनी अन्तरात्मा को धोखा देने के लिए 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः' के न्याय से अपने पास बैठनेवाले सज्जन को मिठाई का अर्द्धांश समर्पित कर देता हूँ किन्तु क्या रक्खूँ या क्या दूँ के निर्णय का भार मैं अपने ऊपर ही रखता हूँ। 'परान्न प्राप्य दुर्बुद्धे ! मा शरीरे दया कुरु' के सिद्धांत को मैं भूल जाने का प्रयत्न करता हूँ और इसी से मैं बचा हुआ हूँ।

जब मैं न बातें करता हूँ और न पढता हूँ तब सोना ही चाहता हूँ। इसीलिए मैंने अपने ठलुआ-क्लब का समर्पण सुख-दुःख की अपनी चिरसंगिनी परम प्रेयसी शैया देवी को किया है। रियासत मे रहकर मुझमे दो ही विलासिताएँ आयी हैं—एक दिन मे सोने की और दूसरी धूप मे न चलने की। धूप निवारण के लोभ से ही मैं कांग्रेस के राज्य मे भी कोट को इसी तरह साथ रखता हूँ जिस तरह बंदर अपने मरे हुए बच्चे को। रात को सोने ही के प्रेम के कारण मैं सिनेमा, ताश खेलने आदि के दुर्व्यसनो से बचा हुआ हूँ। मैं उन लोगों मे से नहीं हूँ जो रात भर जाग कर 'या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति संयमी' की भगवान् कृष्ण की उक्ति को सार्थक करते हैं।

लोग मुझे धार्मिक समझने की मूर्खता करते हैं और बड़ी श्रद्धा से धर्म-चर्चा करते हैं। मैं यथासंभव उनका स्वप्न भंग नही करता। ऐसे श्रद्धालु लोगो को संतुष्ट करना कठिन नही होता है। धार्मिकता की विडंबना किए बिना मैं उनकी बातो का यथामति उत्तर दे देता हूँ। उत्तर देकर यदि दाताओ की सूची मे मेरा नाम आ जाय तो 'वचने का दरिद्रता।'

मैं धार्मिक या अत्याचारी नही हूँ। मैं गोस्वामी तुलसीदास के इन वचनो मे कि 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' पर सदा सोलह आना विश्वास करता हूँ पर इतना धर्म-भीरु भी नहीं जो पाप के नाम से डरूँ। झूठ भी, जैसे ईद-बकरीद जुलाहा पान खा लेता है,

मैं झूठ बोल ही लेता हूँ, अर्थलाभ के लिए तो नहीं किन्तु मान-मर्यादा की रक्षा के लिए कभी बेबस होकर बिना टिकट के रेल में सफर भी कर लेता हूँ किन्तु उसका पश्चात्ताप नहीं होता। पकड़ा न जाऊँ तो उस बेबसी के किए हुए पाप को सहज में भूल जाता हूँ किन्तु तांगेवाले को कम पैसे देने में अवश्य दुःख होता है।

चोरी मैं बड़ी चीज की तो नहीं करता किंतु छोटी चीज की कभी-कभी कर लेता हूँ। यह पाप भी चीज की पसंद पर न्योछावर कर देता हूँ। कभी-कभी अच्छी पुस्तकें जिनकी संख्या एक हाथ की अंगुलियों पर की जा सकती है, मैंने चुरा ली है, वह भी उनके यहाँ से जिनके यहाँ मैंने आतिथ्य स्वीकार किया है। उनमें एक कीथ महोदय का संस्कृत ड्रामा है। यह भी मुझ-सा सहृदय मुझसे माँग कर लौटाना भूल गया है। अपरिग्रह अर्थात् त्याग मैं जरूरत से ज्यादह नहीं करता हूँ। मैं दुनिया में और लोगों की भाँति आराम चाहता हूँ, कुछ-कुछ वैभव भी किन्तु दूसरों को सताकर नहीं। जिस तरह लोग कला का कला के लिए अनुशीलन नहीं करते हैं, वैसे मैं धन के लिए धन का अनुशीलन नहीं करता, फिर भी धन के लोभ-लालच से मैं परे नहीं हूँ। धन मेरे लिए साधन है, साध्य नहीं है।

इन सब अवगुणों के होते हुए भी मैं परेशान नहीं हूँ। जब तक कोई आपत्ति सर पर न आ जाय मैं भगवान से भी दया की भिक्षा नहीं माँगता, किसी दूसरे से भी माँगने में मुझे लज्जा नहीं आती किन्तु मैं मनुष्य के एक बार नहीं करने पर या मौन हो जाने पर दुबारा नहीं मुँह खोलता। मैं पूजा-पाठ सौन्दर्योपासना के रूप में मन को शुद्ध कर लेने के लिए भोजनों की प्रतीक्षा में कर लेता हूँ। लोग कहते हैं 'भूखे भजन न होंहि गुपाला' किन्तु मैं भूख में ही भजन करता हूँ। मुझे भूख भी शायद बड़ी अच्छी लगती है। बिना नहाये ही कभी-कभी पूजा कर लेता हूँ। भक्ति-भावना से नहीं, परन्तु नाद-सौन्दर्य के कारण कभी देवताओं के स्तोत्र पढ़ लेता हूँ और कभी-कभी रुचि से गीता के 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' के साथ नरहरि के

'श्रृंगार शतक' के भी श्लोक 'विश्रम्य-विश्रम्य द्रुमारामं छायासु तन्त्री विचचार काचित्' या कालिदास के मेघदूत या शकुन्तला के 'तन्वी श्यामा शिखिर-दशना' वाला श्लोक पढ जाता हूँ। इसके लिए मैं स्वर्ग से विमान आने की प्रतीक्षा नही करता। मेरा धर्म स्वातः सुखाय है।

और कुछ न लिख सकने के कारण मानसिक दरिद्रता की आत्म-ग्लानि निवारण करने के लिए मैंने ये आत्मस्वीकृतियाँ लिख दी हैं नही तो अपना भरम न खोलता। बौद्धो मे तथा रोमन कैथोलिको मे पापो की आत्म-स्वीकृति विधिवत् की जाती है और उसकी गणना पुण्य कार्यों मे होती है। मुझे मालूम नही कि इस पुण्य का क्या फल मिलेगा। इतना ही बहुत है कि इस आत्म-स्वीकृति में जितना आत्म विज्ञापन है, उसे जनता उदारतापूर्वक क्षमा कर दे।

●

माखनलाल चतुर्वेदी

(संवत् १९५४--२०२५ वि०)

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का गद्य-साहित्य उनकी जीवन-चेतना का जीवन्त प्रतीक है। उनकी समस्त रचनाएं, चाहे वे गद्य-गीत हों, निबन्ध हों, कहानियां हों, रेखाचित्र या संस्मरण हों, राष्ट्र-प्रेम की भावना से युक्त हैं।

चतुर्वेदी जी के गद्य-गीतों ने युग-चेतना का अविस्मरणीय स्वर मुखरित किया। इन गद्य-गीतों में यद्यपि भावुक मन की सरसता है पर साथ में राष्ट्र का तरुण ओज है, संघर्ष की तड़प है, स्वप्नों को साकार करने की दृढ़ता है।

चतुर्वेदी जी निबन्धकार के रूप में भी उतने ही सफल हैं जितने गद्य-गीतकार के रूप में। आपके निबन्ध भावात्मक होते हैं। इनमें वैयक्तिकता की पूर्ण छाप होती है। आपके निबन्ध-संग्रह 'साहित्य देवता' ने आपको उच्चकोटि के भावात्मक निबन्ध-लेखकों की श्रेणी में बिठा दिया। 'अमीर इरादे गरीब इरादे' उनका दूसरा निबन्ध-संग्रह है। इसमें संकलित निबन्ध उनके प्रगतिशील विचारों के परिचायक हैं।

कहानीकार के रूप में भी चतुर्वेदी जी की कला निखर उठी है। उन्होंने अधिकतर लघु, कलात्मक कहानियां लिखी हैं। उनकी कहानियां खण्डित जन-जीवन की प्रतिमाएं हैं। जिनमें कहानीकार की संवेदना, सूझ-बूझ, अनुभूति, व्यंग्य आदि के रंगों का मनोरम आकर्षण है। इन छोटी कलात्मक कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक हास्य-प्रधान कहानियों का भी सृजन किया है। '[illegible]', '[illegible]', '[illegible] का अनुवाद' आदि कहानियां भावात्मक कहानियों के तथा 'दांत का दर्द', 'नाक [illegible]', 'दो गप्पी' आदि कहानियां हास्य कहानियों के उदाहरण के रूप में दी जा सकती हैं।

चतुर्वेदी जी के रेखाचित्र तथा संस्मरण हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उन्होने अपने समसामयिक कुछ प्रतिष्ठित साहित्यकारो के व्यक्तित्वो को रेखाचित्रो के माध्यम से साकार किया है। 'प्रसाद', पंत, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि से सम्बन्धित रेखाचित्र श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

इस प्रकार चतुर्वेदी जी हिन्दी-साहित्य के वह यशस्वी साधक हैं जिनकी कृतियो में जन-जीवन की चेतना तथा राष्ट्र का मानस साकार हो उठा है। आप सही अर्थों में 'भारतीय आत्मा' थे!

साहित्य की वेदी

○⊙

तुम्हारी वेदी !

वेदी वह, जिस पर मैं आदर से आँसुओं के फूल चढ़ाने को लालायित रहता, जिसकी ओर से आनेवाली वीरता की ललकारों को सुनकर पापियों में पवित्रता उमड़ पड़ती, कमजोरों में बिजली दौड़ जाती, साहित्य की ध्वनि-धारा में अद्भुत राष्ट्रीय संगीत सुनाई पड़ने लगता, नीर-क्षीर विवेकवान पाठकों का दल जिसके आस-पास कुतूहल से चंचल हो फुदकने लगता, साहित्य-सुधा के मधुर सरोवरों के सरसिज मृग-मद की मस्ती पर लुटने वाले परिमल को लोट-लोट उसे सुगन्धित करने लगता—ऐसी-ऐसी वह तुम्हारी वेदी ! लो, एक बार मैं उसकी ओर झुक लूँ ! मेरे जीवन का वह सर्वस्व, मेरी आशाओं की वह पिटारी, मेरी जागृति-नटों की वह नाट्यपरी, मेरी मातृ-भूमि की गोद की वह शोभा और मेरे पिछले सुनाम की वह परम पावनी कर्तव्य-पीठिका, देखूँ कैसी हो रही है !

× × ×

मैं उसे मूल्यवान् समझता हूँ, किन्तु उसका मूल्य चाँदी-सोने के टुकड़े नहीं है। पर मूल्यवान् होकर भी खरीदने, बेचने और उपहार में देने की वस्तु नहीं है। उसे चाहनेवाले के शरीर पर 'फटे पुरानेपन' का राज्य, पथ में [illegible], गरीबी, घृणा, [illegible] और [illegible] के सुमनों की कृपा के तोहफे [illegible], पदों से सुख की ओर न बढ़ने देने वाले बन्धन, फिर [illegible] मिट जाने की कामना, [illegible] और [illegible] पर भी [illegible] की पूजा के भावों से सम्पन्न [illegible] की [illegible] और तुम्हारे चरणों के धोने के लिए [illegible] धारा, गालों पर [illegible] के आना-जाना की तैयारी, मुँह में मौन

भाषा की मनोहर स्तोत्रमाला, हृदय मे देश की दशो दिशाओ मे गूंज मचाने वाली वीणा तथा दुर्वल को सबलता का स्वरूप बना डालने वाली पुस्तक लिए हुए तुम, और हाथों मे अपनी श्यामता से श्याम के मन को भी मोह लेनेवाली लेखनी—वह लेखनी, जिसके चल पडने पर मेरे हाथो मे जीवन ज्योति जगमगाने लगे, बिछुडे हुए मिलने को टूट पडें, सोते हुए जागृति का संदेश पहुँचाने लगें और पिछडे हुए अग्रगामियों को पथ के पीछे छोड बैठने की ठानते देखें—ऐसे अक्षरो के उपासक, शब्दो के साधु, पदो के पूजक व्यजनो के विजयानन्द बिहारी, सन्धियो के निर्माता और 'पूतना मारण लब्धकीर्ति' के अग मे नित नव आभूषणो को समर्पित करने वाले; किन्तु प्राणो को मतवाले हो कलम के घाट उतारनेवाले ही को अधिकार है कि वह आगे बढे और तुम्हारी अमृत-सन्तानों की आज्ञा को शिर पर धरकर तुम्हारा पवित्र सदेश सुनाने, तुम्हारा दिव्य दर्शन कराने और तुम्हारे लिए की हुई आजन्म तपस्या का प्रत्यक्ष परिचय देने के लिए आगे बढें, और आशीर्वाद के जलकणो से सचित उस वेदी-रूप गोदी मे पके हुए परिमल-पूरित, प्रफुल्लित पकज के समान शोभित हो, वह महाभाग और उस तुम्हारे भावो के मतवाले के मस्त सौरभ से महक उठे माता, वह तुम्हारी वेदी।

× × ×

पुकार हुई और तुम्हारे आराधको ने तुम्हारे एक सेवक को ढूंढा। उसने गिरि-गह्वरो मे प्रवेश कर तुम्हारी अमृत सन्तानो का मित्र बनकर तुम्हारा कीर्तिगान किया था, उसने हिंसको से पूरित बीहड वन में तुम्हारे वाहन के नाम की गगन-भेदिनी गर्जना सुनाने मे साथ दिया था, उसने तुम्हे पहनाने के लिए माला गूंथने मे अपने आप को आगे बढाया था और उसने हिंसको के हृदयो को न हिलाकर, हिमालय के पुत्र की एक कन्दरा मे अपना जीवन बिता, समर्थ के सदेशो को दुहराया था, और उसने कर्मयोग के सन्देश-वाहक का सच्चा सेवक बनकर दिखाया था। हम दौड़ पड़े, और तुम्हारी वेदी, उसकी महत्ता और पूज्यता की रक्षा के लिए उसके चरणो मे बैठकर

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

(संवत् १९६१–२०२३ वि०)

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय साहित्य और संस्कृति के गम्भीर अध्येताओं में रहे हैं। प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन मुद्राओं के आधार पर उन्होंने प्राचीन इतिहास को सामने रखने का सराहनीय कार्य किया है। 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' तथा 'हर्ष चरित—एक अध्ययन' आपके इस विषय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। मानवता तथा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से आपने 'महाभारत' का विशद् अध्ययन किया है। इनके ग्रन्थों ने हिन्दी को विशिष्ट ज्ञानराशि प्रदान की है।

डॉ० अग्रवाल की भाषा कुछ संस्कृतनिष्ठ तथा शैली विवेचनात्मक होती है। विषय का प्रतिपादन ऐतिहासिक, पौराणिक एवं प्राचीन साहित्यिक कृतियों के आधार पर आपने किया है।

'मानव की व्याख्या' निबन्ध में उन्होंने प्राचीन तथा आधुनिक विस्तृत दृष्टिकोण के समन्वय से मनुष्य की सार्वभौम संस्कृति पर प्रकाश डाला है। आपकी रचनाएँ हैं—

कला और संस्कृति, कल्पवृक्ष, भारतसावित्री, मातृभूमि, उरुज्योति, हर्षचरित : एक अध्ययन, कादम्बरी : एक अध्ययन, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, भारत की मौलिक एकता, मलिक मोहम्मद जायसी : पद्मावत, पद्मावत की व्याख्या।

आपने शृंगारहाट का संपादन भी किया है।

भारतीय कला और संस्कृति के अन्यतम अध्येता के रूप में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। हिन्दी साहित्य की आपकी बहुमूल्य सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी।

बुलबुले प्रत्येक शताब्दी मे जन्म लेते और विलीन हो जाते हैं ? यदि ऐसा ही है तो नाखूनी पजोवाले कालचक्र को अपनी गति से घूमने दो वह इस बापुरे मानव को कहाँ ठौर दे और क्यो ? छीलर के जल मे चोच मारती हुई हंसिनी की भाँति ऐसे मानव की वराकी बुद्धि के लिए हमारे मन मे क्या आस्था हो। वह तो क्षुद्र है, असमर्थ है, स्वार्थ से अभिभूत है, विश्व के अनन्त दुर्द्धर्ष प्रवाह मे उसकी कोई महिमा या प्रतिष्ठा नही। अतएव मानव की सच्ची व्याख्या का आज नया मूल्य है। विश्व के मनोक्षेत्र मे मानव की प्रतिष्ठा की दार्शनिक पृष्ठभूमि मानव की सच्ची व्याख्या ही हो सकती है।

मनुष्य केवल मात्र स्थूल शरीर नही है। पाँच या चार तत्त्वो के अकस्मात् क्रमबद्ध हो जाने से मनुष्य नही बन गया। रासायनिक प्रतिक्रिया से ९२ तत्त्वो के किसी प्रकार रचपचकर एक हो जाने से मानव का पुतला सामने आ गया हो, केवल यही अन्तिम सत्य नही है। अन्नमय पुरुष अवश्य ध्रुव सत्य है। उसे ही आजकल की परिभाषा मे वायोलाजिकल मैन कहेगें। अशनाया इसी मानव की विशेषता है। पुत्रैषणा या काम इसी मानव का क्षेत्र है। प्रकृति के विराट सविधान मे यह मानव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो प्रथम तो अन्न द्वारा देह का पोषण करता है और फिर प्रजनन द्वारा सृष्टिक्रम जारी रखता है। आहार और मैथुन जिसकी विशेषता है वह मानव वास्तविक है। स्थूल है, उसे हम मानव के भीतर का पशुभाग कह सकते हैं।

इसी के साथ मानव मे एक दैवी अश है। वह इसका मनोमय और विज्ञानमय भाग है। जो स्थूल शरीर की अपेक्षा कम सत्य और वास्तविक नही है। भारतीय परिभाषा के अनुसार मानव मे मर्त्य और अमृत का सयोग है। शरीर मर्त्य और मन अमृत है। मर्त्य भाग उसे पार्थिव जगत् के साथ बाँधे हुए है। अन्न और वायु इसी मर्त्य भाग की प्रतिष्ठा है। वे दोनो मानव की लौकिक स्थिति के लिए अनिवार्य है। इस मानव की

परिपूर्ण साधना के बिना पृथ्वी का ऋण नही उतरता। अतृप्त वासनाएँ पुन-पुन मानव के भीतर के पशु भाग को अपने वश मे कर लेती हैं।

मनुष्य के भीतर ही उसका दैवी अश भी है। वस्तुत मन ही एक देव है, जो सब मानवो मे प्रतिष्ठित है। 'एको देव. सर्वभूतेषु गूढ' इस गूढ देव को प्रकट करना और जीवन के हर कार्य मे इसे अधिकाधिक प्रकट करना, यह मानव का दैवी सन्देश या कार्य है। इसका पूरा होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना अन्न और काम के प्रति सतुलित अवस्था प्राप्त करना आवश्यक है। मानव के समक्ष दोनो ही समस्याएँ एक जैसी अवश्य हैं। एक का हल करना जितना आवश्यक है, दूसरे का हल भी उतना ही अनिवार्य है। दोनो के समन्वय के बिना सतुलित मानव का आविर्भाव नही हो सकता। जब तक मर्त्य और अमृत भागो का एक-सा विकास न किया जायगा मानव अतृप्त और अपूर्ण ही रहेगा। उसका जीवन और उसके सब कार्य अधूरे रहेंगे। जो स्थूल मानव है वह प्रकृति का अनुचर है। जो आध्यात्मिक प्राणी है वही प्रकृति का स्वामी है। जो अशनाया ग्रस्त है वह प्रकृति के साथ द्वन्द्व मे फँसा है। उसके चारो ओर सीमाभाव है। वासना, अधिकार-लिप्सा, ईर्ष्या और हिंसा, ये उस मानव के जीवन मे उत्पन्न हो गए हैं जो उसके अधिकाश दु खो के कारण हैं। आध्यात्मिक मानव के विकास से ही मानव इन कमजोरियो से ऊपर उठ सकेगा। अध्यात्म की अभिव्यक्ति के साथ-साथ मानव के विकास का नया धरातल शुरू होता है। अशनाया-प्रधान मानव के प्राय अनेक नियम यहाँ दूसरे प्रकार के हो जाते हैं। जो मर्त्य अश भोग चाहता है वही अध्यात्म या अमृत सम्कृति में उन भोगो को छोड़ना चाहता है उनके ऊपर मानसिक विजय प्राप्त करके अपने आपको उनके ऊपर के धरातल पर ले जाता है। प्राकृत अवस्था मे जो मानव का पशु भाग है, वह अध्यात्म-सम्कृति में त्याग के द्वारा दैवी गुणो को ग्रहण करता है। पशु को स्वरूप परिवर्तन के द्वारा देव बनाना, यही अध्यात्म-प्रगति है।

इसी का पुराना नाम यज्ञ है। यज्ञ की भूमिका मनुष्य का अपना शरीर और मन है। यज्ञीय भावो को सम्पूर्णतया अपनाए बिना हम उन मानसिक वासनाओ से बच ही नही सकते, जो हमे अधिकार-लिप्सा, स्वार्थ-साधना, या हिंसा की ओर ले जाती है । मानव का स्थल हिंसा प्रधान जीवन क्षेत्र धर्म है। इससे ऊपर प्रेम और त्याग का जीवन ब्राह्म सस्कृति है। वह दैवी अश है। वह अमृत माग है। वही श्रेष्ठ कर्म है जिसे यज्ञ भी कहा है। विश्वात्मा के लिए यज्ञीयभाव या आत्मसमर्पण के बिना विश्वमानव का जन्म असम्भव है।

आज सर्वत्र विश्वमानव की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। प्रत्येक जाति और देश का लक्ष्य विश्व-बन्धुत्व की प्राप्ति है। उसका सीधा-साधा अर्थ यही है कि एक मानव मे जो अधिकार और स्वार्थ की सत्ता है, वह दूर होनी चाहिए। विश्वमानव के साथ उसके मनोभावो का स्वच्छन्द मेल होना चाहिए। जो हालत एक मानव की है वही एक समूह सम्प्रदाय जाति या देश की हो सकती है। उसकी सकीर्णता का निराकरण उसके स्वास्थ्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना एक व्यक्ति का विश्व के साथ सतुलित होने के लिए अपने सीमाभाव को छोडना है। क्या राष्ट्र या मानव के पृथक् समुदाय भी इस प्रकार के प्रयोगो मे सामूहिक रुचि ले सकेंगे? आज इस प्रश्न पर धुआंधार-सा छाया हुआ है। परन्तु जिसकी दृष्टि स्वच्छ है उन्हे यह स्पष्ट दिखलाई पडता है कि मानव के अमृत अश का, उसकी अध्यात्म-सस्कृति का विकास होकर ही रहेगा। उसी ओर सघर्ष, द्वन्द्व और हिंसा मार्ग से भी मानव को अन्ततोगत्वा जाना ही पडेगा। इसका विरोध करके कोई भी कुशलपूर्वक नही रह सकता। किसी एक को विजय अध्यात्म-मानव की हत्या करके ही सम्भव है। सब की विजय के लिए अध्यात्म-सस्कृति, त्याग और यज्ञीय भावो के धरातल पर सबको आना ही पडेगा। सबकी विजय का मार्ग वही होगा, जिसमे हरएक की विजय दिखाई पडे, किसी एक की ही नही। विश्वात्मा के मन को उन्मुक्त

करने के लिए सब की मुक्ति आवश्यक है। स्थूल रूप मे जब एक राष्ट्र या समूह शक्तिशाली बनता है तब तक औरों की मानसी हत्या करके ही उनके ऊपर अपने अधिकार की स्थापना कर पाता है। किन्तु अध्यात्म-सस्कृति का मार्ग भिन्न है। उसमें हर एक को ऊपर उठाकर अपनी उन्नति की जाती है। दूसरो के प्रति उन्मुक्त उदारता, सेवा, प्रेम और आत्मीयता के द्वारा ही हम विश्वात्मा या विश्वमानव के साथ एक हो पाते हैं। आज विज्ञान के प्रागण मे विश्वमानव का शीघ्रता से जन्म हो रहा है। राजनीति के क्षेत्र मे अभी उसकी गति पकडी नही जा सकती । यही बडी अडचन दिखाई देती है। किन्तु विज्ञान के पीछे मानव के उच्च विकास का जो दर्शन है वह पूर्ण होकर रहेगा।

आज शक्तिमत्ता के साथ त्याग के मन्त्र की आवश्यकता है। गृहस्थाश्रम के सचय के साथ वानप्रस्थ और सन्यास के अपरिग्रह धर्म की भी आवश्यकता है। आत्मरक्षा के साधनो के विकास के साथ दूसरो को अभय की स्थिति में लाने की भी उतनी ही आवश्यकता है। क्षात्रधर्म के साथ ब्रह्मधर्म को भी विकसित करना होगा। शरीर की भोग प्रधान आवश्यकताओ को साधने के साथ-साथ त्याग-प्रधान अध्यात्म-सस्कृति का भी विकास करना होगा। इसी मे मानव का सच्चा हित है। इसी से उसकी महिमा की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव है।

डॉ० नगेन्द्र

(जन्म सन् १९१५ ई०)

डॉ० नगेन्द्र हिन्दी-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचक, निबन्धकार तथा विचारक है। आप हिन्दी-जगत् मे रसवादी आलोचक के रूप मे प्रख्यात हैं। रसवादी आचार्य के रूप मे भारतीय रस-सिद्धान्त की पूर्णता के प्रति आपका अखण्ड विश्वास है। ऐसा ही विश्वास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का था। वस्तुतः उनकी आलोचनात्मक पद्धति आचार्य शुक्ल की व्याख्यात्मक पद्धति का ही विकसित रूप है, ऐसा कहा जा सकता है।

उच्चकोटि के आलोचक के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र एक कुशल निबन्धकार भी हैं। यो तो प्रायः उनके निबन्ध भी आलोचनात्मक ही है, पर अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण उनका पृथक् महत्त्व भी है। उनके निबन्ध विचारात्मक हैं। उनके निबन्धो मे शैली की दृष्टि से अनेकरूपता मिलती है। उनको निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित करने मे इन प्रमुख पुस्तको ने बहुत सहायता दी है—१. रस सिद्धांत, २. काव्यचिंतन, ३. विचार और अनुभूति, ४. विचार और विवेचन आदि। इनके निबन्धो को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी, व्याख्यात्मक समीक्षा सम्बन्धी, संस्मरणात्मक तथा भावात्मक।

निबन्धो के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र ने संस्मरण तथा यात्रा-साहित्य भी लिखा है। संस्मरण का श्रेष्ठ उदाहरण 'चेतना के बिम्ब' है।

डॉ० नगेन्द्र की भाषा एक शास्त्रनिष्ठ आलोचक की भाषा है। पर उनकी भाषा में विषयानुसार परिवर्तन भी होता रहता है।

डॉ० नगेन्द्र की भाषा में संस्कृत के साथ अंग्रेजी के शब्दो का भी नि सकोच प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा मे यदि एक ओर संयम, गहनता,

सस्कृतनिष्ठता मिलेगी तो दूसरी ओर सहजता, रागात्मकता तथा प्रवाह-मयता भी। वस्तुतः उनकी भाषा उनके व्यक्तित्व की परिचायिका है।

डॉ० नगेन्द्र हिन्दी के मूर्द्धन्य समालोचक हैं। निबन्ध के क्षेत्र मे विशेषकर समीक्षात्मक निबन्धकार के रूप मे आपकी विशेष प्रतिष्ठा है किन्तु उनका समालोचक रूप उनके निबन्धकार रूप को दबाये रखता है। उनके निबन्धो मे सहज आत्मीयता की अपेक्षा अध्येता का रूप ही सबल है।

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

⊙⊙

कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझ पर अनेक आरोपो के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य मे सामाजिक गुणो का विरोध करता हुआ अहवाद का पोषण करता हूँ। आज उसी को लेकर जब मैं आत्म निरीक्षण करने बैठता हूँ तो एक प्रश्न मेरे मन मे अनिवार्यतः उठता है—साहित्य का मूल धर्म क्या है? और अनेक पण्डित मित्रो की विरोधी युक्तियो के बावजूद भी इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है: 'आत्माभिव्यक्ति'। जैसा कि मैं अनेक प्रसगो मे अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूँ, आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार मे केवल दो तत्त्वो का ही अस्तित्व अत मे मानना पड जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओ से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतत्र सत्ता स्वीकार नही करता। परन्तु वास्तव में यह दोनो ही दर्शन की चरम स्थितियाँ है—और व्यावहारिक तल पर दोनो ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत् की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यो न माने, व्यावहारिक जीवन मे व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का सबध दार्शनिक अतिवादो से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिए

यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं, मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूंकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हे ही जीव और जगत्—आध्यात्मिक मनोविज्ञान मे अह और इत्य, विज्ञान मे व्यक्ति और वातावरण कहा है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा सस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नही है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु रूप मे नही ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपो के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दो मे आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमे आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म मे प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमे कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूं वह कर रहा हूँ—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्त है—इसमे विशेष भौतिक व्यवहारो के द्वारा मैं आत्म का प्रतिसवेदन का आस्वादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टत ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड मे आए कोई रूप ही नही रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड मे नही आता, उसका अस्तित्व सवेदन से पृथक् कुछ भी नही है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ मे बंध जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—

इच्छा और कर्म का सम्बन्ध अनिवार्य नही है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य है ।

दूसरा प्रश्न स्वभावत यह उठता है कि आत्माभिव्यक्ति का पूरा मूल क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरो के लिए उसका क्या उपयोग है। तो, जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष मे है—काव्य शास्त्रो ने जिसे सृजन-सुख कहा है । अपने पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म के द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बडी सफलता है । वाणी मे कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कर्म तथा सूक्ष्मता और आन्तरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उससे आनन्द मे सूक्ष्मता और आतरिकता स्वभावत ही अधिक होगी—दूसरे शब्द मे यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा । अत निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है । मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, उसके आगे और कुछ पूछना नही रह जाता । परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है । इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अह का सस्कार होता है—उसकी वृत्तियो मे कोमलता, शक्ति, सामजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता, आदि गुणो का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है । शब्द और अर्थ अत्यन्त आतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमे निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नही सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियो मे से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक

हो सकते है, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा मे साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी वडी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को चाहे उसमे कैसे ही दुर्गुण क्यो न हो अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का सस्कार करती है।

यही एक और शका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कही इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहकार का पोषण तो नही होता। इसके उत्तर मे मेरा निवेदन है कि अहकार और अह दो भिन्न वस्तुएँ है—अहकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है वहाँ अह समस्त वृत्तियो की समष्टि का नाम है—जिसे दूसरे शब्दो मे आत्म भी कहते हैं। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी सक्रियाओ की भाँति अह अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय करती है, परन्तु अहकार का पोषण उसके द्वारा सभव नहीं, क्योकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्मसाक्षात्करण के क्षणो मे ही सभव हो सकती है और आत्म-साक्षात्कार मे दभ के लिए स्थान कहाँ। अभिनव ने इसीलिए इसको उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सत्त्वगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अह स्वभावत अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य सर्जन द्वारा वह इसी अह से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि मे वह इस अह (अहकार के नीचे दबी हुई पीडा) को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप मे अह का विसर्जन है। जैनेन्द्र जी के चिंतन पर गांधी की—अथवा और व्यापक रूप मे लीजिए तो सतों की आत्मपीडनमयी चिताधारा का प्रभाव है, इसलिए उन्होंने

आध्यात्मिक शब्दावली—'अह का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव मे 'अह' का सस्कार ही है—इसके द्वारा अहकार का पूर्ण विसर्जन होकर अन्त मे अत्यन्त सूक्ष्म रीति से अह—अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन मे आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति मे, जहाँ वासना सर्वथा अभुक्त रहती है, सपूर्ण और आत्म समर्पण की सभावना है इसमे सदेह नही—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म निवेदन वैष्णव साहित्य की अत्यन्त परिचित घटना है। परन्तु इस आत्म समर्पण अथवा निवेदन मे अह का विनाश नही है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अह की प्रेम-पात्र अथवा इष्टदेव मे प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अत मे फिर उसे आत्मलीन कर लेता है। आत्म का यह सस्कार समष्टि के प्रेम मे और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के सकुचित वृत्त से निकाल कर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावत ही उसका विस्तार हो जाता है।[1] यहाँ अह समाज के सम्मिलित अह से तद्रूप हो जाता

---

१. परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टिगत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टिगत प्रेम नही है। इसमे आत्म प्रवचना एव प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है—इसलिए नेता लोग आत्म का सस्कार करने की अपेक्षा प्राय अहकार का सवर्द्धन कर लेते हैं। देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और योग्यता के होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि मे असफल रहते हैं, और एक साधारण, अपने मे खोया हुआ व्यक्ति उसमे सफल हो जाता है। उसका कारण यही है कि नेता के जीवन मे प्रदर्शन के अवसर अधिक और आत्म साक्षात्कार के क्षण विरल होते है, और ऊपर से असामाजिक दिखने वाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल मिलते होने के क्षण अधिक मिलते रहते हैं। किसी वृहत् आदोलन को लेकर खडे होने वालो की स्थिति

है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है । यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह आत्मदान नही करता—परन्तु इससे हमारी धारणा मे बाधा नहीं पड़ती हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अत मे आत्म का लाभ ही होता है, हानि नही ।

अब प्रश्न का दूसरा अश लीजिए, लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है। पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति के द्वारा सामाजिक को उससे परिष्कृत आनन्द उनकी सवेदनाओ को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तियो को समृद्ध बनाता है—जीवन मे रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लाति की अवस्था मे शाति और माधुर्य का सचार करता है । इस प्रकार की *निश्छल आत्माभिव्यक्तियो ने सामाजिक चेतना का कितना सस्कार किया* है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है । हिन्दी की रीति कविता को ही लीजिए ।

आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर लाछित किया जाता है, और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है, परन्तु उसके मधुर छदो ने पराभव-मूढ समाज की कोमल वृत्तियो को सरस रखते हुए उसकी जडता को दूर करने मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाजशास्त्री कर सकता है । बडे-बडे लोकनायको ने अपने सघर्षक्लात मनो को इसी की सजीवनी से सरस किया है । लेकिन जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियो का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वय लिख गया है । कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो

इनसे भी अधिक जटिल है—क्योकि उसमें सिद्धान्त की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का मोह भी अधिक रहता है ।

परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वय एक बड़ा वरदान है—नैतिक एव सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतन्त्र महत्त्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मैं नैतिक एव सामाजिक मूल्य का निषेध नही करता। जीवन मे नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितो से निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के सगठन और हितो की रक्षा करने वाले नियमो का सकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप मे समाज का अविभाज्य अग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमे प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिए; बौद्धिक और भावगत परम्पराएँ दी उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-भावना की सकुचित भूमि से उठकर उसके अह का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनो की ही सिद्धि होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक हैं, साहित्यिक नही। उपर्युक्त कर्त्तव्य-निर्णय सामाजिक का है, लेखक का नही और स्पष्ट शब्दो मे, सामाजिक के रूप मे लेखक निस्सदेह उपर्युक्त दायित्व मे बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह मे यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है, परन्तु लेखक के रूप मे उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नही है, लेखक रूप मे उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्मा-भिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने मे उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नही हो सकती। क्योंकि निश्छलता का सात्त्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामा-

जिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सचेत है—वैयक्तिक स्वार्थ-साधन को छोड़, समाज सेवा मे ही वह अधिकाश समय व्यतीत करता है, उसका व्यक्तित्व बहुत कुछ सामाजिक एव सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत कुछ बलिदान किया है, उसकी आवाज मे शक्ति है और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से, जिसके व्यक्तित्व मे सामाजिक गुण नहीं है, अनिवार्यतः उत्कृष्ट होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमे एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभिव्यक्ति के दो अग हैं—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति। इनमे भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव ही नही मिल सकता। आत्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय करेगी। वास्तव मे महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए सम्भव है जिसका आत्म महान् हो। जब तक उसका अह महान् अर्थात् उन्नत, व्यापक और गम्भीर नही है, तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अह का यह उन्नयन, विस्तार और गाभीर्य, व्यष्टि-वृत्त से निकल कर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत कुछ सम्भव है। (विश्व-कवियो के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय मे मेरे दो निवेदन हैं—एक तो यह है कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। महान् व्यक्ति के अभाव मे कोई कृति महान् साहित्य नही हो सकती, पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव मे तो वह साहित्य ही नही रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का गौरव नही दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गाभीर्य, जीवन के महत्तर मूल्यो के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और यह महत्तर

मूल्य अन्त मे बहुत कुछ समष्टि-गत मूल्य ही होंगे, यह ठीक है। परन्तु इनका निर्णय स्थूल दृष्टि से बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आदोलनो को सामने रखकर नही करना होगा, वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओ को तोडकर बहती हुई अखड मानव-चेतना के प्रकाश मे ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओ मे खोया हुआ, इस सत्य का विस्तार कर सामयिक आवश्यकताओ के अनुसार साहित्य पर भी अधकचरे निर्णय देता रहा है, परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी हो रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाने पर उस अखड मानव-चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है और उस निर्णय मे उचित सशोधन कर दिया है। समय ही साहित्य का सबसे बडा आलोचक है, यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यहाँ अखड मानव-चेतना की बात सुनकर शायद आप चौंक उठें परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह बडा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मैं किसी आध्यात्मिक तत्त्व की ओर रहस्य सकेत नही कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है उसी से मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का सम्बन्ध राजनीतिक अथवा सामाजिक नैतिक मूल्यो से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का सम्बन्ध मानवीय मूल्यो से है। इन दोनो मे साधारणतः कोई विरोध नही है, वास्तव मे मानवीय मूल्यो मे सामाजिक नैतिक मूल्यो का अतर्भाव हो जाता है। परन्तु विशेष परिस्थितियो मे यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायेंगे।

डॉ० मुशीराम शर्मा 'सोम'

(सवत् १९५८ वि०)

डॉ० मुशीराम शर्मा 'सोम' जी का जन्म जिला आगरा की तहसील फिरोजाबाद के एक ग्राम 'ओखरा' मे विक्रमी संवत् १९५८ मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी शनिवार को हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गांव से ही हुई थी। आपने हाईस्कूल परीक्षा एटा के गवर्नमेण्ट हाई स्कूल से उत्तीर्ण की और प्रान्त भर मे छठां स्थान प्राप्त किया। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर से इण्टर और बी० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के बाद १९२६ ई० मे आपने डी० ए० वी० कालेज, लाहौर से संस्कृत मे एम० ए० की परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। उसके पश्चात् आपने हिन्दी एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९२६ से जून सन् १९६२ तक आप डी० ए० वी० कालेज, कानपुर मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर रहे। उसी कार्य-काल मे आपने सन् १९५३ ई० मे पी-एच०डी० तथा सन् १९५८ ई० मे डी०लिट्० उपाधियाँ प्राप्त कीं।

आचार्य 'सोम' भाव-प्रवण कवि, साहित्य-मर्मज्ञ समीक्षक, गद्य-काव्य तथा निबध-रचना मे दक्ष गद्यकार, वेदो के शोधकर्ता तथा अथक अध्ययन-रत विद्वान् हैं। 'विरहिणी' आपका महाकाव्य तथा 'गणेश-गीतांजलि' खंड-काव्य है। आपने हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा आलोचना पर भी ग्रंथ लिखे हैं। 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' आपका पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखा गया शोध-प्रबध है। डी० लिट्० के लिए इन्होंने 'भक्ति का विकास' लिखा था। 'जीवन-दर्शन', 'तत्त्व-दर्शन', 'प्रथमजा', 'सारस्वत', 'वैदिक निबंधावली' तथा 'वेदार्थ चन्द्रिका' आपके निबन्धो के संग्रह हैं।

स्वभाव के अनुसार आपकी शैली मे सर्वत्र गंभीरता उपलब्ध होती

है। सहृदयता एवं कोमलता आपके प्रमुख विशिष्ट गुण हैं। आपका हास्य-व्यंग्य भी बहुत शिष्ट एवं रचनात्मक होता है। वेदाध्ययन के लम्बे अभ्यास एवं मनन के परिणाम-स्वरूप आपकी अभिव्यक्ति मे विशिष्ट वैदिक शब्दावली का सहज समावेश एवं अनायास प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार 'सोम' जी के व्यक्तित्व का प्रभाव उनकी शैली मे सर्वत्र पाया जाता है। संस्कृत, ब्रजभाषा तथा खड़ी-बोली सब पर आपका समान अधिकार है। आपकी भाषा संस्कृत तत्सम शब्दबहुल है।

गोस्वामी तुलसीदास का महत्त्व

⊙⊙

इस युग की विश्लेषण-मयी आलोचना पद्धति का प्रचार प्राचीनकाल मे नही था। उस युग की सश्लेषण-प्रधान विवेचना विध्वस के स्थान पर विधायक कार्यक्रम की ओर प्राय. अधिक अग्रसर होती थी। जिस कवि का जैसा प्रभाव पाठको की मानस-भूमि पर पडता था, वैसा ही वह उग कर और पल्लवित होकर जनता के समक्ष किसी दोहे या चौपाई के रूप मे उपस्थित हो जाता था। कबीर, सूर, तुलसी, गगा, केशव प्रभृति कवियो के सम्बन्ध मे इस प्रकार की आलोचनामयी अनेक पक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। इस विषय का निम्नाकित दोहा प्राय. सभी साहित्यिको की जिह्वा पर विद्यमान रहता है :—

> सूर-सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
> अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

इस दोहे मे कवि ने सूर को सूर्य के समान तेजस्वी, प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न, तुलसी को चन्द्र के समान शीतल, स्निग्ध, ज्योत्स्ना का प्रसारक पीयूषवर्षी, केशव को जगमग, अनिर्वचनीय, कौतूहल पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाले तारक-दल के समान और अपने युग के कवियों को खद्योत के समान यत्र-तत्र प्रकाश करने वाला माना है।

वर्तमान युग के एक प्रकाण्ड आलोचक ने इस दोहे की मान्यता पर आपत्ति की है। उनकी दृष्टि में किसी कवि ने यमक की झनक में आकर यह दोहा लिख डाला है, नहीं तो सूर को सूर्य और तुलसी को शशि की उपमा देना कहाँ तक सगत है? इनके अनुसार तुलसी को सूर्य और सूर को शशि कहना उपयुक्त माना जा सकता है। तुलसी जैसा महा-कवि

चन्द्र बना दिया जाय—यह उन्हे सह्य नहीं हो सका। होता भी कैसे, जब चन्द्र पार्थिव है, पृथिवी की परिक्रमा करता है, हमारी पृथ्वी के अधिक समीप है और सूर्य ? ओह ! वह तो एकदम आग्नेय तथा हम से करोडो मील दूर ! दूर की वस्तु वैसे भी अच्छी लगती है। "गवइ गाँव को जोगना आन गाँव को सिद्ध"—यह लोकोक्ति बहुत दिनो से चली आती है। जो हमारे समीप है उसका मूल्य ही क्या ? जो दूर है वही आकर्षण का हेतु हो सकता है। अतः चन्द्र की अपेक्षा सूर्य मे कही अधिक आकर्षण है। फिर तुलसी चन्द्र क्यो माने जायें ? चन्द्र दूसरो से ज्योति ग्रहण करता है, उसमे स्वत प्रकाश नही। सूर्य अपने प्रकाश से प्रकाशित है—उस तेजपुञ्ज को किसी अन्य स्थान से तेज ग्रहण करने की आवश्यकता नही, वह दूसरो को प्रकाश देता है। उसका स्वभाव अन्यो से उधार लेने का नही है। इस प्रकार चन्द्र घटिया और सूर्य बढिया। फिर तुलसी को सूर्य क्यो न माना जाय ? क्यो उसे चन्द्र की उपमा दी जाय ? चन्द्र पृथ्वी का उपग्रह मात्र है, पर सूर्य ग्रह-मण्डल के बीचोबीच सिंहासन पर बैठकर राज्य करने वाला है। इतनी विशेषताओ से युक्त सूर्य ही तुलसी के लिए उपमान बन सकता है, विशेषताओ से विहीन चन्द्र नही।

पर जब मैंने इस दोहे पर विचार किया तो मुझे यह दोहा सर्वाङ्ग, सम्पूर्ण और उक्ति-औचित्य-समन्वित जान पडा। विद्वान्-आलोचक ने चन्द्र की जिन हीनताओ को उसकी न्यूनता और दुर्बलता समझा है वही मेरी समझ मे उसका सर्वश्रेष्ठ उदात्त तत्त्व है। चन्द्र पार्थिव है, हमारे अधिक समीप है—यह अवगुण नही, एक महान् गुण है। जो मेरे समीप नही, वह मेरे हृदय को कैसे स्पर्श कर सकता है ? भले ही उसमे अद्भुत आकर्षणशक्ति हो, पर जब तक वह मेरे समीप नही आता, मुझे आकर्षित नही करता, जन-जन के मानस मे आह्लाद की तरगें नही उठाता, तब तक वह मेरे किस काम का ? तुलसी पार्थिव, घोर पार्थिव है—वह

इसी लोक की बातें करता है—अलौकिक को भी लौकिक बना देता है। वह दूर नही, निकट से मेरे हृदय का स्पर्श करता है। वह मेरी, मेरे समाज की, मेरी जाति की, मेरी सस्कृति की, सक्षेप मे मानव हृदय की बात करता है, वह इस घरातल से उठ कर कोरी कल्पना के क्षेत्र मे विचरण नही करता। कल्पना उसमे है, पर कोरी कल्पना नही, अगाध भावधारा उसमे है, पर कोरी भावना नही—वह इसी पार्थिव घरातल का आश्रय लेकर खडी हुई है। वह ममत्व से असवद्ध नही, असपृक्त नही, अपितु उमसे बँधी हुई, मिली हुई है। अत मेरी, मुझसे और मेरे लिए बात कहने वाला तुलसी ही मेरा शशि है, क्योकि वह सूर्य की अपेक्षा मेरे अधिक निकट है।

कहते हैं, चन्द्र मे अपनी ज्योति नही, वह स्वत प्रकाशित नही, उसे प्रकाश के लिए परमुखापेक्षी बनना पडता है। अत अन्यो के घन से घनी बनने वाला चन्द्र क्या मेरी आराधना का केन्द्र हो सकता है? और तुलसी? वह रक की कुटी से लेकर राजाओ के प्रासाद तक पहुँचने वाला जन-जन की आराधना का केन्द्र-विन्दु? अरे, वह चद्र नही हो सकता? उसे तो सूर्य की उपमा ही शोभा देती है। पर थोडा सोचिए, ध्यानपूर्वक विचार कीजिए। तुलसी स्वय अपनी सम्पत्ति को अपनी नही कहता वह डके की चोट, निर्भय और निरभिमान होकर उसे दूसरो से उधार ली हुई बतलाता है। रामचरित मानस को प्रारम्भ करते ही तुलसी कह देता है—"नानापुराण निगमागम सम्मत यद्रामायणे निगदित क्वचि-दन्यतोपि, स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषानिबद्धमति मजुल मातनोति।" अर्थात् रामचरित मानस की सामग्री अनेक पुराण, शास्त्र, वेद, वाल्मीकि रामायण तथा अन्य कई ग्रन्थो से ग्रहण की गई है। जब तुलसी स्वय इतने स्पष्ट रूप से इस विषय मे अपनी स्वीकृति दे रहे हैं तो हमे इस विषय के आलोचको से अधिक कहने की आवश्यकता नही रह जाती। हाँ, यह कहा जा सकता है कि दूसरो से उधार लेना

अच्छा नही, महत्त्व के अनुकूल नही। अच्छा प्रथम उधार लेने की बात पर विचार कीजिये। जिस वस्तु को मैं बाहर से ग्रहण करता हूँ, क्या वह मेरे अन्दर पहुँच कर भी बाहर की बनी रहती है? यदि वह बाहर की बनी रहती है, तब तो निस्सन्देह उसका उधार लिया जाना बुरा है, गर्हित है, निन्द्य है! पर जब वह मेरे अन्दर जाकर मेरा एक अश बन जावे, मेरे रक्त, मास और मज्जा मे घुल-मिल जाय, तब उसे कौन दूसरो की सम्पत्ति कहेगा? वह तो मेरी सम्पत्ति बन गई। जिस फल को बाहर से लेकर मैं खाता हूँ, जो पदार्थ मेरे प्रतिदिन के आहार का भाग है, वह चौबीस घण्टो के अन्दर मेरा अपना बन जाता है—बाहर का नही रहता। इसी प्रकार तुलसी ने अपनी कथा के उपकरण कई स्थानो से ग्रहण किये, महाभारत से शैव-वैष्णवो के विग्रह-उपशम की उक्तियाँ, श्रीमद्भागवत से वर्षा, शरद् के वर्णन, देवताओ की स्तुतियाँ, वाल्मीकि से राम की गाथा, प्रसन्नराघव से स्वयवर का वातावरण, हनुमन्नाटक से मुद्रिका आदि के प्रसंग, अध्यात्म रामायण से नाम का माहात्म्य और राम की अलौकिकता आदि आदि, पर इन सबको रामचरितमानस मे इतना आत्मसात् करके अकित किया है कि वह दूसरो से उधार लिया हुआ किसी भी अश मे प्रतीत नही होता। ऐसा जान पडता है जैसे समूचा सस्कृत वाड्मय, समग्र आर्य सस्कृति एकत्रित होकर तुलसी के मानस से रामचरितमानस के रूप में प्रवाहित हो रही है। यदि तुलसी का मानस आर्य-सस्कृति का प्रतिफलन है, तो रामचरितमानस तुलसी के हृदय का प्रतिफलन है। इतनी महती आदर्श-राशि क्या कोई अन्य हिन्दी कवि भी दे सका है? ऐसे कितने पाठक हैं जो विभिन्न ग्रन्थो को पढने की क्षमता रखते हैं। पर तुलसी की यह विशेषता है कि वह इतनी विपुल ग्रन्थ-राशि को पढता है, उस पर विचार करता है, उसे आत्मसात् करता है और फिर आत्मलीन करके उसे अपने ही तक सीमित नहीं रखता, अत्यन्त उदारतापूर्वक उसे समग्र जनता को बाँट भी देता है। क्या इस

सिद्धि मे तुलसी की मौलिकता पर आँच आती है ? तुलसी जो कुछ हमे देता है, वह उसकी आत्मसात् की हुई, पचाई हुई, हजम की हुई, उसकी अपनी वस्तु है और नितान्त मौलिक है। हाँ, यदि मौलिकता से तात्पर्य केवल यही समझा जाय कि वह कहीं से भी, किसी भी अन्य स्थान से न ली गई हो, उसका एक भी अश बाहर उपलब्ध न होता हो, तो कदाचित् विश्व मे कोई भी मौलिक कवि होने का दावा नही कर सकेगा। स्वर्गीय प० रामचन्द्र शुक्ल कहा करते थे कि जो जितना महान् कवि है, वह उतना ही कम मौलिक है।

कवि, सन्त, ऋषि प्राय. सभी एक स्वर से कहते रहे हैं कि वे जो कुछ कहते हैं या लिखते हैं वह सब प्राचीन ऋषियो की कही हुई बातें हैं और प्राचीन ऋषि स्वय अपने ज्ञान के लिए उस परम आदि गुरु प्रभु की ओर सकेत करते रहे हैं। फिर समग्र सामग्री उपलब्ध रहने पर भी उसे एक सुसज्जित रूप देना किसी सुलझे हुए महान् मस्तिष्क का ही कार्य है, ईंट, पत्थर, चूना, लोहा आदि तो विश्व मे विपुल रूप मे बिखरे पडे हैं, पर उन्हे एकत्रित कर भव्य भवन के रूप मे परिणत कर देना तो किसी वास्तु-कलाकार का ही कार्य है। इसी प्रकार राम की पवित्र गाथा के उज्ज्वल अश तो चारो ओर बिखरे पडे थे, पर उन्हें रामचरितमानस जैसे रत्न या मणि मे परिवर्तित कर देने का श्रेय तुलसी को ही है।

चन्द्र की ज्योत्स्ना भी इसी प्रकार उसकी अपनी है। दूसरो से ज्योति ग्रहण करके भी उसने इस ज्योति को आत्मसात् कर लिया है—अपना बना लिया है। तभी तो चन्द्र की चाँदनी, कलाकौमुदी मे सूर्यताप की प्रखरता का लवलेश भी दिखलाई नही पडता। चकाचौंध पैदा कर देने के स्थान पर वह नयनाभिराम, हृदयानुरजनकारी, शीतल, स्निग्ध और पीयूष-वर्षिणी बन गई है। भला कहाँ प्रचण्डता और कहाँ शीतलता ? कहाँ झुलसाने-जलाने की क्रूरता और कहाँ शीतल सुधा से आप्यायित

करने की उदारता ! एक की वस्तु दूसरे के पास पहुँचकर कितनी परिवर्तित हो गई।

यह सब ध्यान मे लाकर मैं सोचने लगा—क्या 'सूर सूर तुलसी ससी' कोरी यमक की सनक है ? हृदय ने उत्तर दिया—नही, इस दोहे की उक्ति किसी सहृदय आलोचक के हृदय से निस्सृत हुई है। वह किसी भावना एव विवेचना-सम्पन्न आत्मा के सच्चे और वास्तविक हृदयोद्गार हैं। यदि सूर्य मे महत्ता और चन्द्र मे हीनता ही दिखाई देती तो कवि-कुलगुरु कालिदास पराजित परशुराम को सूर्य और विजयी राम को चन्द्र की उपमा कभी न देते।

रघुवश का यह श्लोक उक्त दोहे की उक्ति की समीचीनता सुचारु रूप से प्रकट कर रहा है —

तावुभावपि परस्परस्थितौ, वर्धमानपरिहीनतेजसौ।
पश्यतिस्म जनता दिनात्यये, पार्वणौ शशिदिवाकराविव॥

—रघुवश ११-८२

वास्तव मे सूर्य और चन्द्र के अपने-अपने क्षेत्र है। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से एक को दूसरे का पूरक कहा जा सकता है। पर कवि-दृष्टि मे जो स्थान सुधाधाम सोम को प्राप्त हुआ है वह ऊष्मावास प्रभाकर को नही। इसी प्रकार मानव हृदय मे जो स्थान तुलसी ने बना लिया है वह अन्य किसी भी कवि के भाग्य मे नही बदा था।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

जो उत्पन्न हुआ है, वह एक दिन अवश्यमेव पञ्चत्व को प्राप्त होगा। पर धन्य हैं वे सुकृति-सम्पन्न रससिद्ध कवीश्वर जिनके यशःशरीर को, कीर्ति-कलेवर को, जरा और मरण का कभी भय नही होता। इन सरस, सहृदय, वदनीय विभूतियो को युग-युग तक जनता स्मरण किया करती है। इन कवीश्वरो की वाणी, इनकी विचारधारा अनन्तकाल तक मानवो

की जिह्वा और मानस-भूमिका पर रमण किया करती है। गोस्वामी तुलसीदास ऐसी ही विभूतियो मे से एक थे। उनके पार्थिव अस्तित्व को विलीन हुए आज तीन-सौ वर्षों से कुछ ऊपर समय व्यतीत हो गया, पर वे आज भी आर्यजाति के लिए शिरसा प्रणम्य एव वन्दनीय बने हुए हैं।

यह तो उनके स्वीकृति-सूचक शब्दों से ही प्रकट है कि रामचरित-मानस का प्रणयन गोस्वामी जी ने स्वान्त सुखाय ही किया था, रामचरितमानस लिखकर उन्होने अपने मानस को ही सुख, शान्ति एव तृप्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया था। पर यदि उनके मानस का विश्लेषण किया जाय तो यह मानस एक व्यक्ति तक ही सीमित न रहकर समूची आर्य जाति का मानस सिद्ध होगा। गोस्वामी जी का हृदय सस्कृत वाङ्मय के अनुशीलन एव प्रतिफलन द्वारा आर्य जाति के हृदय रूप में परिणत हो गया था। अत उनके हृदय की सुख-दु ख-मयी, राग-विराग-मयी अनुभूति उनके सकुचित व्यक्तित्व तक ही परिमित न रह कर समग्र आर्यजाति की अनुभूति बन गई थी। इसी हेतु उनका स्वान्त सुखाय आर्यान्त. सुखाय था। इस अन्त सुखाय-रूप प्रधान उद्देश्य के लिये काव्य उनका साधन रूप था। इसी के द्वारा उन्होने अपनी उद्देश्य-सिद्धि को चरितार्थ किया।

कतिपय आलोचक गोस्वामी जी के कवित्व-शक्ति-नैपुण्य पर अगुलि उठाने लगे हैं। इन आलोचको की दृष्टि मे तुलसी का काव्य हीन कोटि का है। उनकी काव्यकौमुदी को सुधारक एव उपदेष्टा रूपी राहु ने ग्रसित कर लिया है। उनकी प्रकृति-पर्यवेक्षण-प्रभा दार्शनिकता की मेघ-श्यामिका से आच्छादित हो गई है। उनकी भावधारा राम की रहस्य-मयी सत्ता से कुण्ठित, अवरुद्ध एव विरूप हो उठी है। जो कवि नही, सुधारक और उपदेशक का कार्य करता है, दार्शनिक और आचार्य के पद पर आसीन होना चाहता है, उनकी रचना मे काव्यकला की कमनीयता कैसे उपलब्ध हो सकती है ?

आलोचकों की आलोचना में संभव है, कुछ तथ्य हो; पर उनकी कु-टीकता दूसरों के टीका लगाने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्य नहीं करती। इनकी टीका तुलसी को कवि न मानने के लिये वाध्य होती है तो होने दीजिये; गोस्वामी जी ने अपने को कवि कब घोषित किया है? वे तो ऐसे आलोचकों से विनम्र होकर कह रहे हैं :—"कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥" तथा "कवि न होहुँ नहि चतुर कहाऊँ। मति अनुरूप राम गुन गाऊँ॥" अरे भाई, काव्य का ज्ञान मुझे कुछ भी नहीं है। मैं कवि नहीं हूँ। मेरी रचना में कवित्व का अनुसंधान आप व्यर्थ ही करते हैं। कवि बनना मेरा उद्देश्य नहीं है। मेरे जीवन का तो एक ही ध्येय है, मेरा रोम-रोम इसी ध्येय के गायन में लीन है—यह ध्येय है, सर्वत्र रमण करने वाले राम का गुण-कीर्तन। मैं तो अपनी बुद्धि के अनुसार इस राम के गुणों को गा रहा हूँ—कविता नहीं कर रहा। यदि इस गुणगान के साथ कहीं काव्य-कला आ गई है, तो वह तो भगवद्भजन के समय भगवती भारती का वीणावादन है, जो अपने आप उपस्थित हो जाता है। मैंने उसके लिये आयोजना नहीं बनाई, कोई प्रयास नहीं किया। मेरा उद्देश्य तो राम-गुण-गान ही है।

तुलसी का यह राम क्या है? रामचरित मानस का परायण करने के उपरान्त प्रत्येक सहृदय पाठक कह उठेगा—यह राम आर्य संस्कृति एवं सभ्यता का प्रतीक है, आर्य जाति की आचार-विचार-प्रणाली की प्राणधारा है। राम शब्द के उच्चारण में जैसे हमारे समस्त क्रियाकलाप का उद्घोष है। तुलसी अपने समय की पद-दलित पराधीन आर्य जाति को इसी आर्य संस्कृति के निदर्शक पुण्य धाम राम का पवित्र संदेश देने आया था। वह आर्य जाति को राममय बनाना चाहता था, उनके चरित्र के अनुकरण द्वारा इसे पुनः जीवित-जागृत करने आया था।

गोस्वामी जी के सम्मुख भक्ति-भाव-भरित श्रीमद्भागवत का श्रीकृष्ण चरित था। पवित्र-चरित्र राम की यशोमयी गुणगाथा भी उसके एक

अध्याय में आ गई है, परन्तु जिस तल्लीनता के साथ भागवतकार ने श्रीकृष्ण का चरित्र अंकित किया है, उस तल्लीनता के साथ राम का नही। श्रीमद्भागवत द्वारा श्रीकृष्ण का भक्ति की उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ मे प्रभूत प्रचार हुआ। रामभक्ति के प्रचार के लिए श्रीमद्भागवत जैसे किसी अनूठे ग्रंथ की ही आवश्यकता थी। आर्य जाति की इसी आवश्यकता को हृदयंगम करके गोस्वामी जी ने रामचरितमानस निर्माण किया, जिसमे श्रीमद्भागवत के अनेक अंश ज्यो के त्यो आ गये हैं। श्रीकृष्ण के चरित की अपेक्षा राम के चरित मे लोक-संग्रही आदर्शों की अधिकता थी ही। अतः तुलसी ने अपनी मंगलविधायिनी कल्पना द्वारा इन आदर्शों की कल्याणकारिणी सृष्टि खड़ी करके आर्य जाति को जीवन-प्रदायिनी शक्ति प्रदान की।

आदर्श किसी मार्ग पर चल कर ही प्राप्त होते हैं। मार्गों का निर्माण एक दिन मे नही हो जाता। जनता किसी बुद्धिमान के पदचिह्नो का बार-बार अनुकरण करती हुई पथ-निर्माण करती है। अनेक बार के पद-संचार से शनैः-शनैः एक लकीर-सी बन जाती है। यही आगे चलकर चौडी होती हुई राजपथ मे परिवर्तित हो जाती है, जिस पर चल कर एक साधारण पथिक भी आयास का अनुभव नही करता। आर्य जाति के आदर्श-पथ भी इसी प्रकार निर्मित हुए हैं। कई शताब्दियों के उलट-फेर के पश्चात् आर्य जाति ने अपनी एक विशेष संस्कृति स्थापित की। क्रमशः विकसित होती हुई यह संस्कृति अपने अत्यन्त पुनीत एवं उज्ज्वल रूप मे रामचरितमानस में अभिव्यक्त हुई।

रामचरितमानस भगवान राम की भक्ति से तो लबालब भरा ही हुआ है, साथ ही अन्य देवो के प्रति अपनी प्रगाढ श्रद्धा का परिचय देता हुआ अतीव सामंजस्यात्मक रूप को भी ग्रहण किये हुए है। व्यक्ति और समाज, शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व, स्त्रीत्व और पुरुषत्व, नियम और श्रद्धा, लोकधर्म और सन्तवृत्ति, बाह्यशक्ति और अन्तःशक्ति सभी का

उसमें सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। आर्य संस्कृति का विशुद्ध परिमार्जित रूप जो क्रमशः विकसित होकर हमारे अंग-अंग में समाविष्ट हो गया, इसी सामंजस्य पर आधारित है। यह सामंजस्य पराधीनता के वातावरण में लुप्त हो चला था। गोस्वामी जी ने उसकी पुनः प्रतिष्ठा करने का भगीरथ प्रयत्न किया। इस रूप में वे आर्य संस्कृति के महान् रक्षक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

रामचरितमानस में आर्य संस्कृति का यह रूप प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त है। उसमें भाई-भाई का प्रेम, पति-पत्नी का कर्तव्य, पुत्र-पिता का सम्बन्ध, गुरु-शिष्य का आचार, स्वामी-सेवक की कार्यदिशा, मित्र-मित्र का व्यवहार, राजा-प्रजा की पारस्परिक शिष्टता आदि सभी बातों का समावेश है। पुत्र कैसा हो, इस विषय पर निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं —

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
धन्य जन्म जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू॥

मित्र का कर्तव्य इन पंक्तियों में कितने स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है.—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥

राजा के कर्तव्य का सार इन शब्दों में बढ़ कर कहीं मिल नहीं सकता .—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवशि नरक अधिकारी॥

कर्म का प्रभाव देखिए .—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

पददलित व्यक्ति अथवा जाति को सांत्वना देते हुए तुलसी कहते है :—

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेहु मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ॥

एक ओर दैव प्रभाव और दूसरी ओर कर्मनिष्ठा दोनो पर सम्यक् प्रकाश डालने वाले तुलसी को एकागिता-दोष से कौन दूषित कर सकता है ? जिसने खल और साधु दोनो की वन्दना की, तात्त्विक दृष्टि से दोनो के गुण अवगुणो का उल्लेख किया, वह तुलसी वास्तव में व्यापक दृष्टि रखने वाला महान् पुरुष था। उस पराधीनता के युग मे पावन आर्य आदर्शों के सुन्दर चित्रण के साथ भक्ति की पुनीत मन्दाकिनी को जिसने प्रवाहित किया, जिसमे स्नान करके आर्य जाति एक बार तो स्वाधीन वातावरण मे साँस लेने ही लगी थी, उस रससिद्ध अमर कवि तुलसी के मानस को इन पक्तियो से बढकर अन्य कौन पक्तियाँ प्रकट कर सकेंगी—

मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ। सो सहाय एहि अवसर होऊ॥
दीन दयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

उस महाकवि की स्वरावली के साथ अपना स्वर मिला कर जैसे आर्यजाति ही अपना दु ख-निवेदन प्रभु के चरणो में कर रही हो। धन्य है ऐसा यशस्वी, गौरवसम्पन्न कवि और धन्य है उसकी अमर ग्रन्थ राशि !

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

(जन्म सन् १९१४)

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल का जन्म कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील के अन्तर्गत ओरिया ग्राम में २ अगस्त, सन् १९१४ को हुआ था। आपकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा कानपुर मे ही हुई। सन् १९४१ में आपको आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। इसी वर्ष अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की 'साहित्यरत्न' परीक्षा में भी आपको प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। सन् १९४३ से आपने डी० ए० वी० कालेज कानपुर मे हिन्दी प्राध्यापक के रूप मे कार्य प्रारंभ किया और सन् १९६२ से वहीं पर आप हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित हैं।

सन् १९५२ में श्री शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य में विविधवाद' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि तथा सन् १९६० मे 'संत साहित्य की भाषा' नामक प्रबन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। इन दोनो ग्रंथो को राजकीय सम्मान मिलने के साथ ही साथ विद्वज्जगत् में भी इनका समादर हुआ है। इनके अतिरिक्त 'भारतेन्दु की नाट्यकला', 'प्रेमचन्द' 'संत कबीर' आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

डॉ० शुक्ल अपने विद्यार्थी जीवन से ही राष्ट्रीय विचारधारा के रहे हैं। स्वातंत्र्य-संग्राम में आपने सक्रिय भाग लिया है। समाज-सेवा की भावना आपको सदैव अनुप्राणित करती रही है। साहित्य और समाज के प्रति सेवा-भावना के कारण ही आपका व्यक्तित्व सरल एवं उदार है। कर्मठता आपके जीवन का विशिष्ट अंग है।

आपके स्वभाव मे व्याप्त सरलता एवं गंभीरता आपकी रचना-शैली मे भी सर्वत्र पाई जाती है। सरस, करुण एवं भावपूर्ण स्थलो में डॉ० शुक्ल की रचनाशैली भी विषय के अनुरूप ही अपना सहज स्वरूप निर्मित करती चलती है। आपने साहित्य को जीवन से अनुस्यूत माना है और इसीलिए आप जीवन के उच्चातिउच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा साहित्य मे प्राप्त करने के पक्षपाती हैं।

संत कबीर

⊙⊙

भारतवर्ष में संतो की परम्परा भारतीय साहित्य के मूलस्रोत तक पहुँचती है। वैदिक साधना को लेकर हमारे सामने दो प्रकार के ग्रन्थ आते हैं—(१) ब्राह्मण (२) उपनिषद् ग्रन्थ। ब्राह्मण ग्रन्थ कर्म-काण्ड की उपादेयता प्रतिपादित करते हैं और उपनिषद् ग्रंथो के ऋषियो ने भक्ति के स्वरूप को ज्ञान के आधार से प्राप्त करना चाहा। उपनिषद्-ग्रन्थो की चिन्तनधारा को जैनियो एव बौद्धो ने भी स्वीकार किया। हम देखते हैं कि उपनिषद् ग्रंथो के ऋषि, जैनियो के तीर्थंकर और बौद्धो के श्रवण-परिव्राजक, अर्हन्त, भन्ते आदि एक ही विचारधारा के पोषक थे। ये साधक ब्रह्म-तत्त्व को जानते थे, अत उन्हे सतनाम से अभिहित किया गया।

संतो की जो परम्परा उपनिषद्-काल मे चली उसमे क्रमश. नाम-भेद होता गया और संत शब्द उन महात्माओ के लिये प्रयुक्त होने लगा जो साम्प्रदायिक रूप मे निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करते थे। निर्गुण उपासना के कारण ही ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम के लिये संत शब्द का प्रयोग होता है। धीरे-धीरे संत शब्द रूढ-सा हो गया और सैद्धान्तिक एकरूपता के कारण पीछे कबीर तथा उनके अनुयायियो के लिये संत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। संत का महत्त्व उसके रूप मे नहीं, गुण मे है। जो व्यक्ति प्रभु को अपने मे निरन्तर लीन किये है, वही सच्चा सन्त है। उसे न तो सुख प्रमादी बनाता है और न दुःख निराशावादी। कामनाओं के कलुषित व्यापार उसकी बुद्धि को मलिन नहीं करते। उसके स्वभाव मे गम्भीरता एवं धैर्य रहता है। सुख-त्याग

उसे कभी नही व्यथित करती, शोक और मोह उसे चचल नही करते । जिस प्रकार समुद्र सदैव मर्यादित तथा अविकारी रहता है, उसी प्रकार सत भी एकरस एव एकरूप रहता है । वह सतत अहकार से शून्य एव भोग साधन मे ममता रहित होकर पूर्ण शक्ति का उपभोग करता है । सत की स्थिति ब्राह्मी स्थिति मानी जाती है जिसमे अवस्थित होकर उसका अन्त करण पूर्णत विशुद्ध हो जाता है ।

सत का मन सदैव ब्रह्मनिष्ठ रहता है। अत. वह दु'ख का बोध नही कर पाता । वह सबको अपना मानता हुआ सबके प्रति निरन्तर स्नेह का व्यवहार करता है । अपनी शील सम्पन्नता और पर-दु ख-कातरता के कारण वह अन्य प्राणियों के लिये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है । विश्व कल्याण उसके जीवन का आदर्श रहता है । वह विषपायी बन कर जन-जीवन को अमृत-दान दिया करता है । सतो की व्याख्या करते हुए कबीर का कथन है '—

निरवैरी निहकामता, साइँ सेती नेह ।
विषया सूं न्यारा रहे, सतनि का अग एह ॥
सत न छोडै सतई, जो कोटिक मिलै असत ।
चन्दन भुवगा वैठिया, तऊ सीतलता न तजन्त ॥

सत भगवद्भक्ति के वाह्याचार के प्रति आस्था नही रखते । भक्ति के साधन-यज्ञ, पूजा पाठ, व्रत दानादि उनके लिये सब कुछ नहीं है । यह सब तो भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था के रूप हैं । सत जन अन्त'साधना पर विशेष बल देते हैं । साधना का यह मार्ग गुरु की अपेक्षा रखता है । समस्त मानव जाति को प्राप्त होने वाला ज्ञान उसकी अर्जित सम्पत्ति के रूप मे है । अर्जन-क्रिया मे जो भी व्यक्ति सहायक होता है उसे भारतीय सस्कृति के अन्तर्गत गुरु की सज्ञा प्राप्त हुई है । विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय इस वात पर एक मत हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान की

कबीर के समय मे समस्त हिन्दू जाति पराधीनता की चक्की मे पिस रही थी। मुसलमानो का शासन दो ही बातें जानता था, या तो कुरान को अपना धार्मिक ग्रन्थ मान कर इस्लाम-धर्म को स्वीकार करो अन्यथा मौत के घाट उतरो। यद्यपि मुसलमानो से पूर्व भी भारतवर्ष पर विदेशी आक्रान्ताओ ने चढाइयाँ की थी; पर वे आए और लूट मार करके चले गए। इसलिये उनके आक्रमण इतने पीडक नही रहे, पर मुसलमानो का आक्रमण केवल लूटमार तक ही सीमित न रहा। उन्होंने भारत की पवित्र भूमि पर शासन भी किया और अपनी धार्मिक कट्टरता के वशीभूत होकर उन्होने हिन्दुओ को धर्मपरिवर्त्तन के लिये विवश किया, हिन्दू देवी-देवताओ की मूर्तियो को नष्ट-भ्रष्ट किया तथा देवालयो के स्थान पर मस्जिदो का निर्माण करवाया। इस प्रकार कबीर के समय मे राजनीतिक जीवन बड़ा ही विक्षुब्ध था, एक ओर आक्रामक जाति अपने विजयदर्प के कारण औचित्यानौचित्य को भूल रही थी और दूसरी ओर हिन्दू जाति अपनी प्राणों से प्यारी स्वतत्रता को खोकर दिग्भ्रान्त हो रही थी। उसके हृदय मे एक विचित्र मन्थन-उद्वेलन हो रहा था। हताश मन की खीझ कभी रोष को वरण करती तो कभी जीवन से दूर भागने का उपक्रम करती। प्राय: देखा जाता है कि पराजय के अवसर पर दोषारोपण के स्वर अधिक तीव्र हो जाते हैं और वर्ग-भावना बलवती हो उठती है। हिन्दू जाति का सामाजिक जीवन भी वर्गभेद की भावना से मुक्त न रह सका। समस्त हिन्दू जाति खण्डश. विभक्त होकर जीवन के विषादमय स्वरूप को प्राप्त कर रही थी। धार्मिक मतमतान्तर उग्र होकर विद्वेष की सृष्टि कर रहे थे। इसी समय धार्मिक क्षेत्र मे स्वामी रामानन्द की अवतारणा हुई। इन्ही के नाम से रामानन्दी सम्प्रदाय प्रचलित हुआ। स्वामी रामानन्द ने यह अनुभव किया कि जब तक वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच की भावना का पोषण करती रहेगी तब तक जातिगत एकता स्थापित होना सभव नही है। और इस एकता के अभाव मे परस्पर अशान्ति का

बना रहना स्वाभाविक है। इसीलिये उन्होंने समस्त वर्णों को एक भावभूमि पर लाने का प्रयास किया। उनका यह अटल विश्वास था कि प्रभु प्राप्ति के मार्ग मे किसी वर्ण का व्यक्ति अग्रसर हो सकता है, क्योंकि साधना और प्रेम का स्थल हृदय है, जाति नही। जब मानव के अतराल में प्रभु के प्रति भक्ति-भाव का उदय हो गया तो फिर वर्णों के ये बाहरी भेद किस काम के।

स्वामी रामानन्द ने उपासना की प्रक्रिया को सरलता की ओर उन्मुख करना चाहा जिससे सभी लोग उसका आनन्द ले सकें। सस्कृत सामान्यत ब्राह्मण-वर्ग की भाषा रह गई थी, लोकजीवन मे उसका स्थान न था। अत उन्होंने भक्ति के क्षेत्र मे सस्कृत के स्थान पर लोक-भाषा का प्रचार किया।

स्वामी रामानन्द ने उपासना के क्षेत्र मे निर्गुण एव सगुण दोनो की मान्यता प्रतिपादित की। हम देखते हैं कि आगे चलकर वही भक्ति-भावना वल्लभाचार्य से प्रतिपादित होकर सूर तुलसी के काव्य मे सगुण उपासना के रूप मे प्रतिष्ठित हुई और कबीर के द्वारा उसने हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत निर्गुण भक्ति का रूप लिया। यदि हम यह कहें कि स्वामी रामानन्द की समाजगत एव धर्मगत भावना के प्रचार और प्रसार मे कबीर ने अपनी वाणी का प्रयोग किया तो कुछ अनुचित न होगा। सतो का जीवन आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण को भी विशेष महत्त्व प्रदान करता है। कबीर भी ऐसे ही सत हैं जिनकी दृष्टि लोकजीवन पर अधिक रही है। लोकजीवन के निर्माता का दृष्टिकोण एकागी नही होता। वह अपने विचारो मे समन्वय के सिद्धात को स्वीकार करके चलता है। कबीर ने यही किया। उन्हें समस्त मानव जाति मे फैली हुई विकृतियो का विनाश करना था, इसलिये उन्होंने बडे धैर्य और गम्भीरता के साथ विभिन्न धर्मो की, परम्पराओ

की अच्छाइयो को देखा और उसके पश्चात् उन बुराइयो की ओर सकेत किया जो जातीय जीवन के ह्रास का कारण बन रही थी ।

भारतवर्ष मे मुसलमानो के शासन के कारण सूफी सम्प्रदाय विशेष पनपा । इन्होने राजनीति से कोई सम्बन्ध नही रखा । इनका कार्यक्षेत्र विशुद्ध रूप से धार्मिक था । सूफियो में प्रेम-भावना का प्राधान्य था। प्रेम एक ऐसा तत्व है जिसकी ओर सभी आकृष्ट होते है । अस्तु, यदि हिन्दू भी सूफियो की प्रेमभावना मे अधिकाधिक तल्लीन हुए तो कोई आश्चर्य नही । कबीर ने जहाँ एक ओर स्वामी रामानन्द के सिद्धान्तो का प्रचार किया वही दूसरी ओर सूफी सम्प्रदाय की अनेक मान्यताओं को भी समादृत किया । सूफियो की यह मान्यता है कि परमप्रभु सृष्टि से पूर्व एक ज्योति का निर्माण करता है । तत्पश्चात् इस ज्योति से सारी सृष्टि बनती है । सूफी कवि जायसी का कथन है—

कीन्हेसि प्रथम ज्योति परगासू।
कीन्हेसि तेहि पिरीति कविलासू ॥

कबीर भी कहते हैं—

लोका जानि न भूलौ भाई,
अला एकै नूर उपजाया, ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थै सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा ॥

सूफियो की मान्यता है कि यह-सृष्टि जो परमात्मा से उत्पन्न हुई है, वह पुन परमात्मा मे लीन हो जाती है । कबीर भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

पाणी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ ॥

नाथ-पथियो मे हठ योग की भावना का विशेष महत्त्व है। वे अनेक प्रकार की कृच्छ्र साधनाओ द्वारा मन मारने की क्रिया सम्पादित करते हैं । उनका विश्वास है कि ईश्वर की सम्प्राप्ति मन के जीतने पर ही

सम्मव है । कवीर ने भी अपने अनेक पदो मे हठयोग की क्रियाओ का प्रतिपादन किया है—

सो जोगी जाकै सहज भाई, अकल प्रीति की भीख खाई ।
सवद अनाहद सींगी नाद, काम, क्रोध विषया न वाद ॥
मन मुद्रा जाकै गुर कौ ग्यान, त्रिकूट कोट मय धरत ध्यान ।
मन ही करन कौ करै सनान, गुर कौ सवद लेले धरै धियान ॥
काया कासी खोजै वास, तहा ज्योति स्वरूप भयो परकास ॥
ग्यान मेपली सहज भाइ, वक नालिकौ रस खाइ ।
जोग मूलकौ देहि वन्द, कहि कवीर थिर होहि कद ॥

कवीर यद्यपि निर्गुण मक्तो की परम्परा मे आते हैं पर वैष्णव-धर्म की सगुण-भावना का रूप भी उनकी साखियो एव वानियो मे पाया जाता है । प्रस्तुत प्रसग मे प्रमाण-स्वरूप कुछ वातो का उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा । वैष्णवमार्गी अपने पूजा-विधान मे आरती का प्रयोग करते हैं । कवीर भी आरती का रूपक उपस्थित करते हुए कहते हैं—

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै, तेजपुज तहा प्रान उतारै ।
पाती पच पुहुप कर पूजा, देव निरजन और न दूजा ॥
तन मन सीस समरपन कीन्हा, प्रगट जोति तहा आतम लीना ।
दीपक ग्यान सवद धुनि घटा, परम पुरिख तहा देव अनन्ता ।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कवीर मैं दास तुम्हारा ॥

कवीर वैष्णव-माव को वडा श्रेष्ठ भाव मानते हैं । तभी तो वे कहते हैं—

मेरे सायी दोइ जणा, एक वैष्णव एक राम ।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै राम ॥

जव वे यह कहते हैं—"भगति नारदी रिदै न आई, काछि कूछि तन दीना" तव वे वैष्णव-भावना की ही ओर उन्मुख होते हुए स्पष्टत प्रतीत होते हैं, क्योकि नारदी भक्ति वैष्णव-भक्ति से पृथक् नही है ।

वैष्णवभक्ति-पद्धति मे कर्म-विपाक तथा पुनर्जन्म मे आस्था प्रकट की गई है। कबीर की ऐसी कई साखियाँ हैं जिनमे पूर्वजन्म का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

"देखा कर्म कबीर का, कछु पुरब जनम का लेख।"

कबीर ने वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत प्रभु के अनेक प्रचलित नाम राम, हरि, केशव, गोविन्द, नारायण, विष्णु, कृष्ण, कमलाकात, गोपीनाथ, शालिग्राम, माधव, जगन्नाथ आदि को निस्सकोच रूप से स्वीकार किया है। इतना ही नही, उन्होंने नरसिंह, प्रह्लाद, ध्रुव आदि अनेक पौराणिक पात्रो को भी अपने मत-प्रतिपादन मे विशेष स्थान दिया है। साथ ही, प्रकारान्तर से उन पौराणिक पात्रो का भी उल्लेख किया है जिनके द्वारा ब्रह्म की महत्ता प्रतिपादित होती है। इन सब बातो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कबीर एक कुशल उपदेशक की भाँति समन्वय के सिद्धान्त को मानते हुए अपने कार्यक्षेत्र मे आगे बढे।

कबीर सर्वाधिक महत्त्व कर्म को प्रदान करते थे। वे लोकजीवन के बीच रहकर ही साधना की उच्चभूमि को प्राप्त करना श्रेयस्कर समझते थे। तथ्य यह है कि मनुष्य कर्म से कभी बच नही सकता। यह समस्त ससार कर्म का ही परिणाम है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

—गीता ३।१४

अत. कर्म करना जीवन की स्वाभाविक प्रकृति है—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—गीता ३।५

कबीर भी कर्म को आत्मकल्याण एव लोककल्याण का कारण मानते हैं। उनका कथन है—

कबीर जे धन्वे तो धूलि, विन धन्वे धूलै नहीं।
ते नर विनते भूलि, जिन धन्वे मे ध्याया नहीं।।

उनका यह अटल विश्वास है कि—

काम मिलावै राम कूं, जे कोइ जाणै राखि।

कबीर की साधना का सर्व प्रधान अग है आत्मदर्शन करना। आत्म-दर्शन की भूमिका मे संचरण करते-करते जव ये कुछ आत्मविश्वासपूर्वक कह उठते हैं तव ऐसा लगता है उनकी वाणी अहकार आविर्भूत है, यथा—

वालि कवीरा ले गया पडित ढूंढै खेत।

× × ×

जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया कवीर।

प्रस्तुत प्रसग मे यह विचारणीय है कि कवीर सदैव अपनी आत्मा के स्वर को ही मुखरित करते हुए पाए जाते हैं। वे जव इस प्रकार का कथन करते हैं तव उनका उद्देश्य राम की उस कृपा का उल्लेख करना होता है जो उनके भक्त को सतत प्राप्त होती रहती है। उनके जीवन की प्रत्येक उपलब्धि राम-कृष्ण की ही कहानी है। स्वयं कर्तृत्व का अहकार उन्हें कभी भी विचलित नही कर पाया है। जीवन की महानतम उपलब्धियो के साथ ही साथ उनके स्वभाव मे अत्यधिक दैन्य एव नम्रता पायी जाती है। इस प्रसग में उनकी निम्नलिखित साखियाँ द्रष्टव्य हैं —

कबीरा कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं।।

यह ठीक है कि उनकी वानियो-शब्दो में ऐसे स्वर अवश्य पाये जाते हैं जिनसे उनका पौरुप परिलक्षित होता है। पर इस सन्दर्भ मे हमे सदैव यह ध्यान रखना चाहिये कि कवीर साधक भी हैं और सुधारक भी। साधना की भूमिका मे प्रतिष्ठित होकर उनका दैन्य मुखरित हो उठता है—

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाह।
ऐसा कोई ना मिलै, पकडि छुडावै वाह।।

फाड़ि पुटौला धज करूँ, कामलड़ी पहिराऊँ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराऊँ ॥

किन्तु जब वे पाखण्डो, कुरीतियो एव जीवन की विकृतियो की ओर सकेत करते हुए निर्माण का विधान करते हैं तव उनका कार्य उस व्यक्ति की भाँति होता है जो राज-मार्ग प्रशस्त करने के पूर्व बीच के झाड-झखाडो को काटता-फादता है। वे रूढियाँ तथा अन्धविश्वास जो जातीय एव सामाजिक जीवन को सकट ग्रस्त किये हुए हैं तथा शृखला रूप मे जीवन विकास-क्रम को अवरुद्ध किए हैं, उनके विनाश के लिए निश्चय ही कवीर का स्वर बडा तीव्र एव परुष है। ऐसे ही अवसरो पर उनकी वाणी मे दर्पादि के स्वरूप का भान होता है। यहाँ उनकी कठोरता बादाम की कठोरता है जो अपने अन्तराल मे पौष्टिक तत्व को सन्निहित किए हुए है।

सत कवीर के कतिपय आलोचको ने उन्हे वेद, शास्त्र आदि के अध्ययन का विरोधी माना है। पर तथ्य इससे नितान्त भिन्न है। कवीर करनी-आचरण पर विशेष वल देते हैं। आत्मकल्याण के लिये केवल शास्त्रज्ञान तव तक उपयोगी नही है जब तक वह ज्ञान हमारे दैनिक आचरण का अंग नही वनता। हमारा ज्ञान जव मस्तिष्क की भूमिका से हट कर हृदय की भूमिका मे सतत सचरणशील रहता है तभी वह उपयोगी सिद्ध होता है। इसीलिए कवीर का कथन है :—

कवीर पढ़िवा दूरि करि, पुस्तक देइ वहाइ।
वावन आखिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ॥

तुलसी ने भी इसी तथ्य पर वल दिया है —

वाक्य, ज्ञान, विपुल भव पार न पावै कोई।
निसगृह मध्य दीप की वातिन तम निवृत नहिं होई ॥

कवीर की ही भाँति तुलसी का भी स्वर अवसर के अनुरूप सरस तथा परुष है।

जहाँ तक कबीर-साहित्य का काव्य सम्बन्धी तत्त्वो से सम्बन्ध है, स्पष्ट है कि कबीर ने काव्य-शास्त्र का नियमित अध्ययन नही किया था और न काव्य-गुणो मे सवलित ग्रन्थ-रचना करना ही उनका उद्देश्य था। पर यदि हृदय की भाषा कविता वन सकती है, आत्माभिव्यक्ति को यदि हम काव्य सर्वोतम रूप प्रदान कर सकते हैं—तो हमे कबीर की रचनाओ मे भी काव्यत्व प्राप्त हो सकता है। जहाँ वे जीवन की नीतिपरक व्याख्या करते हैं, खण्डन-मण्डन करते हैं, वहाँ उनका केवल सुधारक रूप व्यक्त होता है, कवि रूप नही, पर जहाँ उनकी विरही आत्मा पीव-प्रियतम प्रभु से मिलने के लिए तडपती है, वहाँ उनकी तडपन ही स्वतः कविता वन जाती है।

कवीर के काव्य-गुणो की अनभिज्ञता के सम्वन्ध मे लोग जव उनकी पक्ति 'मसि कागद छूयो नही कलम गही नहीं हाथ' उद्धृत करते हैं, तब मेरा ध्यान सहसा तुलसी की इस पक्ति की ओर जाता है —

"कवित, विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥"

इन दोनो कवियो की समान भाव-प्रदायिनी पंक्तियो का उल्लेख करके काव्य-सम्वन्धी तुला पर दोनो कवियो को समान रूप से प्रस्तुत करने का मेरा उद्देश्य नही है। मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कवीर-साहित्य मे उनके कवि रूप को न देखना उनके प्रति सम्यक् न्याय न होगा।

शताब्दियो उपरान्त किसी भी देश में ऐसे युग-पुरुष उत्पन्न होते है जो अपनी वाणी के सशक्त मुखर स्वर द्वारा लोकजीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करने मे सक्षम होते हैं। कवीर ऐसे ही महापुरुषो मे थे जिन्होंने भारत की इस पुण्यभूमि मे अवतरित होकर यहाँ के इतिहास-निर्माण मे अपना प्रभावशाली योग प्रदान किया।

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

(जन्म-संवत् : १९८२)

डॉ० विद्यानिवास मिश्र हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य के विद्वान् हैं एवं हिन्दी के ललित निबन्धकारो मे आपका प्रमुख स्थान है। आपने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित 'शासन शब्दकोश' के अतिरिक्त अन्य कोषों तथा कई पत्रिकाओं का सम्पादन किया है। आप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के भाषाविज्ञान तथा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। संप्रति के० एम० मुंशी रिसर्च इन्स्टीट्यूट के डाइरेक्टर हैं।

डॉ० मिश्र के निबन्धों का वैशिष्ट्य उनकी स्वानुभूति के अंकन मे है, जिसमें वे अधिकांशतः प्राचीन संस्कृति के मधुर एवं सनातन पक्षो का उद्घाटन करते चलते हैं। कहीं-कहीं इतिहास को भी प्रत्यक्ष करते हैं। भाषा प्रवाहयुक्त तथा शैली भाव-प्रधान है।

'मुकुट, मेखला और नूपुर' निबन्ध मे देश की प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक अखण्डता के कुछ पक्षों की अभिव्यक्ति तथा स्वानुभूति की व्यंजना है।

डॉ० मिश्र की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं—

छितवन की छाँह, पंचशर, कदम की फूली डाल, मैंने सिल पहुँचाई, बसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, शासन शब्दकोश, संविधान का मसौदा, भाषा-विज्ञान शब्दकोश, दर्शनशास्त्रीय पारिभाषिक कोश। प्रेमचन्द के उपन्यासों की भूमिका आदि संपादित ग्रंथो मे आपका योगदान उल्लेखनीय है। हिन्दी के ललित निबंध-साहित्य को नया परिप्रेक्ष्य एवं आयाम देने मे डॉ० मिश्र का चित्रण सर्वप्रमुख स्थान रखता है।

मुकुट, मेखला और नूपुर

⊙○

विन्ध्य के अचल में मुझे आये दो सवत्सर से कुछ अधिक हो रहा है। मैं रुककर पीछे देखता हूँ तो सबसे पहले मेरा मन हिमालय के चरणों मे बिछी हुई धानी तराई की स्निग्ध स्मृतियो मे भीग-सा उठता है। मेरा जन्म उसी तराई की धरती में हुआ है और बचपन भी उसी के रस से सिंचित होकर पला है। यह सही है कि साल भर बाण और तुलसी की हिय लगी भूमि में रह कर भी इसके वन-निर्झरो मे, इसके कला केन्द्रो मे, सोन, नर्वदा, गोपद, बनास, केन, बेतवा और दशार्ण की पृथ्वी के हृदय से नदियो की चट्टानो के साथ अठखेलियो मे और अतीत के अधखुले पृष्ठो सरीखें बोलते शिल्पो मे रमा घूमा हूँ। मन इनमे घुलकर इसी से एक न हो सका। इसका कारण यह नहीं है कि मैं अपने को प्रवासी अनुभव करता हूँ बल्कि ठीक मुझे विपरीत उस अतीत के दुलार की धरती का इसमे पूरक दान मिलता है। जब-जब मैंने, कोसो दूर झाडियो और पथरीली चट्टानो के बीच मे वसुधा के पक्ष से स्तन्य-पान करती हुई सरिताओ को देखा है तब-तब मुझे अनन्त और अपार जीवन का उमडाव लिए वे अधीर नारायणी सदानीरा, कौशिकी सरीखी नदियाँ याद आई है, जिनके प्रवाह-वेग मे जाने कितने शत सहस्रजनो का विध्वस प्रति वर्ष निहित रहता है। उनके अधैर्य की बराबर यहाँ उपशान्ति मिली है। जब मैंने ज्येष्ठ मे धाँय-धाँय जलती छोटी-छोटी पहाडियो की चोटियो पर से खडे हो करके तृणविहीन और धूसर भूमि का फैलाव निहारा है, तब तब मुझे हिम-शैल-मालाओं का स्वर्णरंजित अनन्त सौभाग्य और वैसाख-जेठ मे गलते हुए हिमपिण्डो के उमडाव से लहराते हुए साठी (षष्ठि) धान के झूमते खेत भी नजर आये

हैं, मुझे लगा है कि रूप के अनन्त सौभाग्य को विरह की साधना मानो यही मिली है और मुझे अज्ञेय की अमर पंक्तियाँ याद आई है—'विरह की पीडा न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा।'

मेरे मन मे सहसा यह ख्याल आया है कि हिमालय भारत के उस गौरव का प्रतीक है जिसका दर्शन उसने अपनी सभ्यता के प्रथम यौवन मे कालिदास की प्रसन्न वाणी मे किया है और जिसकी नन्दिनी को शिव का अर्द्धाङ्ग बना के सगीत, नृत्य, नाट्य, शिल्प, काव्य आदि समस्त के स्रोत गगा, यमुना, सरस्वती की तरह बहाया है और विन्ध्य उस दारुण तपस्या की, बर्बर आँधियो से बचने के लिए उस विवश वनवास की कला, सस्कृति और समृद्धि को बहुत साधना से सिंचित करने के प्रयत्न की, अहर्निश अपलक जागरण की और आपसी विलगाव मे भी वीरता के अद्भुत और अप्रतिम आदर्श के निर्माण की भूमि है। मुझे इन बीहड और निर्जन वनो मे कभी-कभी हजारो मील दूर अनन्त महासागर का मन्द-मन्द गर्जन और शरद् की राका मे उस अनन्त नील के उज्ज्वल तरगित ज्वार मे सोई हुई धरती के स्वप्न का चन्द्रोदय भी मैंने देखा है, तब जैसे गीत की कडी पूरी हो गयी है। मुकुट, मेखला और नूपुर जैसे इन तीन शृगारो के प्रतिरूप से हिमालय, विन्ध्य और सागर भारत की अनूठी सामजस्यता के विधायक हो, मुकुट की दीप्ति, मेखला की ध्वनित सास और नूपुर का उन्मद विलास परस्पर पूरक और उपकारक हैं, विलग नही।

जो एक विशेष प्रान्त के मोह मे, एक विशेष जनपद के मोह मे और एक विशेष कोने के मोह मे इस विशाल देश की इस विशाल मोहकता को भूल जाता है, उसके ऊपर मुझे तरस आती है। मुझे केवल इतना समझ मे आ सकता है कि जिस माँ का दूध पिया हो, उसका ऋण कुछ विशेष होता है। पर उस ऋण का शोध भी मेरी समझ मे सबसे बडा यही है कि वैसे दूधवाली जितनी मातायें हो, सबकी वत्सलता की पात्रता अपने मे

लायी जाय। क्योंकि माँ एक की नहीं, सबकी है और वह अनेक होते हुए भी एक है।

इस मातृभूमि की वन्दना में जिन कवियों ने गीत गाये हैं उन सबने इसको खण्ड करके नहीं देखा, खण्ड को देखते हुए भी इसकी अखण्डता को उसमें पाने की कोशिश की, पर इस अखण्ड भूमि को अपने खण्ड से तिरोहित करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। उनकी पगडण्डी पर मैं भी चलूँगा। विंध्य के अंचल में आया हूँ तो हिमालय से दूर होकर नहीं, सागर से दूर होकर नहीं, गंगा और कावेरी से दूर होकर नहीं, बल्कि मन में इन सबकी एकाकारता लाते हुए विन्ध्य-दर्शन करने आया हूँ।

मुझे स्मरण है कि एक बार मैं सीधी से लौट कर रीवाँ आया तो मेरे एक भोजपुरी मित्र उस यात्रा के बारे में बातचीत करते समय पूछ बैठे कि सीधी की बोली कौन-सी है। मैंने कहा, भोजपुरी है और सीधी की तहसीलों की बोली, व्यवहार और नाता-रिश्ता मिर्जापुर के राबर्ट्सगंज तहसील बिहार के पलामू और मध्यप्रदेश के सरगुजा के लोगों से अधिक मिलते हैं। मेरे वे मित्र दुर्भाग्यवश पत्रकार थे और उन्होंने बिलकुल ठीक दूसरे दिन 'विन्ध्य प्रदेश में भोजपुरी' ऐसा एक शीर्षक एक पत्र में छापने की कृपा कर ही दी। इसका परिणाम हुआ कि विन्ध्य की इकाई को एकदम अलग विच्छिन्न नग—वह भी ऐसा नग जो किसी अंगूठी में जड़ने के लिए न हो—माननेवाले कुछ मित्रों ने एकदम आकुल होकर मुझे गहरा उलाहना दिया कि साहब आपकी मंशा क्या है? विन्ध्य प्रदेश के सीधी जिले को आप लेना चाहते हैं क्या? मैंने सीधा-सा जवाब दिया कि न मुझे लेना है, न देना है, क्योंकि इन चीजों के लेने-देने का सौदा करने का भार जिन पेशे के लोगों पर है, सौभाग्यवश वह मेरा पेशा ही नहीं है। मेरा पेशा बिना शर्त के, बिना किसी प्रतिपादन की आशा के धरती का रस गन्ध नाद सब को निर्विशेष भाव से लुटाना है, मोल करना नहीं है। मेरे उन मित्रों को शायद ही इससे संतोष हुआ हो, क्योंकि कुछ लोग तो ऐसे हैं जो भारत

के प्रत्येक साम्राज्य के उदय और अस्त, प्रत्येक कला की उडान, प्रत्येक साहित्य की रचना को अपनी सीमाओं मे जकड़ करके रखना चाहते है। मैं कम से कम काल की सीमा को लाघनेवाली सरस्वती की इन प्रसादियो को देश मे सिमटाकर रखने के पक्ष मे हूँ, क्योकि मेरा विश्वास है कि छोटी प्रीति वडी प्रीति को जन्म न दे सके और बडी प्रीति भी ऐसी प्रीति को जन्म न दे सके जिसमे प्रीति पात्र कौन है, यह पहिचानना, यह अगुलि-निर्देश करके वताना असम्भव हो जाये तो उसे मैं मनुष्य की दयनीय दुर्वलता मानता हूँ। मनुष्य की पहिचान निस्सन्देह ममता है, पर साथ ही मनुष्यता का मापदण्ड भी उस ममता का दान है। उस दान में जिसने कजूसी की है, वह बौना वन कर रह गया है, और दान देना ही नही, दान लेना भी और इसलिए दान को भी समर्पण कर देना उसकी महत्ता है।

इस सम्वन्ध मे मुझे एक कहानी याद आ रही है जिसके ऐतिहासिक सत्य असत्य के सम्वन्ध मे कुछ मतामत देने की आवश्यकता नही है, पर जिसका दार्शनिक सत्य अचल और ध्रुव है। यह कहानी है गोरखनाथ और मधुसूदन सरस्वती के भेंट की। गोरखनाथ अपने सात-सौ वर्षों की सावना को एक सिद्धि-शिला मे पुजित करके उचित पात्र की तलाश मे भटकते-भटकते काशी के घाट पर पहुँचे। देखा, अद्वैत-वेदान्त के अन्तिम जाज्वल्यमान् नक्षत्र, भक्ति के अगाध सागर और विरक्ति के हिम-शिखर मधुसूदन सरस्वती घाट को सीढियो पर वैठे-वैठे अपना सन्यास दण्ड गगा की लोल लहरो मे एकाकार कर रहे हैं। इतनी वडी सिद्धि के स्वामी जिससे न जाने कितने विश्वो की सम्पत्ति खरीदी जा सके, न जाने कितने चमत्कारो को न्योछावर किया जा सके और न जाने कितने योगसाधको को परिचय मात्र देने मे पागल वनाया जा सके, भिखारी वनकर उस सन्यासी के सामने खड़े हुए—महाराज मुझे कुछ मागना है, जवाव मिला, कहिए! मैं भी माँग कर आपकी माँग पूरी करने की कोशिश करूँगा, क्योंकि माँग कर रखना मेरा तो व्रत ही नही है। गोरखनाथ

ने और विनम्र होकर कहा—"मेरी माँग आप ही से पूरी हो सकती है और उसके लिए आपको याचक बनने की जरूरत न पड़ेगी। मैं अपने ७०० वर्षों की साधना किसी उचित पात्र मे न्यास करके यह शरीर छोड़ना चाहता हूँ ताकि नये सिरे से नये कलेवर से नई साधना मे मैं लग सकूँ। मुझे भय इतना ही है कि यदि उचित पात्र न मिला तो मैं इस सिद्धि को लेकर भटकता रहूँगा। एक तरह से यह शरीर और साधना के लिए बेकार हो गया है और इसलिए यह सिद्धि भी अब मेरे जैसे निरन्तर साधक के लिए दुर्वह बोझ बन गयी है। मुझे समस्त जगतीतल मे तुम्ही एक सत्पात्र दिखे हो। मुझे निराश न करो।"

आचार्य मधुसूदन ने निस्संकोच भाव से उस शिला को ग्रहण कर लिया और ग्रहण करने के दूसरे क्षण उन्होंने गंगा की निर्मल धारा मे विसर्जित कर दिया। पर आश्चर्य की बात यह है कि गोरखनाथ ने इसे अपमान नही माना। बल्कि ठीक उल्टे इसे चौगुना सम्मान मान करके आनन्द विगलित होकर उन्होंने यह आशीष दी—"वत्स, इससे बढ़कर सुन्दर उपयोग तुम्हारे सिवाय कोई सोच भी नहीं सकता था। मैं स्वय ऐसे उपयोग की कल्पना नहीं कर सकता था। तुम्हारा यह आदर्श न जाने कितने दूसरो को भी अमर बना देगा, मैं नहीं बता सकता।"

यह कहानी मुझे भारत के जीवन-दर्शन का सबसे बड़ा सत्य लगती है। और जब कभी किसी भी परस्पर आदान की बात आती है तो मैं इस कहानी को बरबस याद कर लेता हूँ। आज भारत के विभिन्न राज्यो के बीच एक-दूसरे से बिछुड़ने की, एक-दूसरे से अलग रह कर मनोराज्य खड़ा करने की कल्पनाएँ बहुत जोर मार रही हैं और यह यहाँ के इतिहास के लिए नयी चीज नहीं है। मध्ययुग का इतिहास भी इसी करुणा से परिपूरित है। हाँ, अन्तर इतना अवश्य है और यह अन्तर और भी सोचनीय है कि मध्ययुग मे विवाद के केन्द्र व्यक्ति थे और इने-गिने व्यक्तियो की और उनके परिवारो की आन की रक्षा मे देश के विभिन्न

अग आपस मे कट मरे, पर आज ऐसे बिलगाव की भावना व्यक्ति-समूहों मे उठायी जा रही है क्योंकि ये समूह निस्पन्द हैं। मैं सोचता हूँ कि रवि ठाकुर के शब्दो मे कोई कमल के इन शतदलो को कमल मे असलग्न होकर निहारने की कोशिश क्यो नही करता। क्या एक-एक दल नोच कर ट्रे में विछा देने से ही उसकी सत्ता प्रमाणित की जा सकती है ?

विन्ध्य की विशेषताएँ केवल भारत का अलकार वनने के लिए नही, वल्कि उसका हृदय वनने के लिए मुझे अधिक उपयुक्त लगी। क्योंकि आखिर समस्त शरीर के रक्त का आकर्पण-विकर्पण ही तो हृदय का काम है। भौगोलिक स्थिति से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह प्रदेश उत्तर और दक्षिण पूर्व और पश्चिम भारत का सन्धि-स्थल रहा है। आज एक सुसगठित और चेतन इकाई के रूप मे यह प्रदेश नयी शक्ति लेकर उठ रहा है तो केवल यही कामना है कि इस शक्ति का विनियोग गलत रास्ते मे न हो। मैं जो कुछ देख सुन-सका हूँ उससे मुझे वस यही लालसा हुई है कि वसुमती के सोये हुए ये शक्ति-स्रोत समस्त भू-मण्डल मे रस फैला सकें। लोगो से अगस्त ऋषि वाली कहानी के वारे मे कई वार सुना है और उससे लोगो की व्यथा भी कई वार अनुभव करने को मिली है पर मैं विन्ध्य के उस महान् विनय को अवनति मानने के लिए कभी तैयार नही हूँ। उसी प्रकार जिस प्रकार की तुलसी की दास्य-भक्ति को मनुष्य की कायरता मानने के लिए तैयार नही हुआ जा सकता है। शक्तिशाली की विनय, कायरता नही होती और हिमालय अपनी ऊँचाई मे वडा है, सागर अपनी गहराई मे वडा है। तो विन्ध्य अपने विनय के विस्तार मे वडा है, ऐसा विस्तार जो सस्कृति के सभी कीर्ति-स्तम्भों को व्याप्त करके फैला हो।

○